परम विदुषी पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

जन्म टिकैतनगर (बाराबंकी) सन १९३४ वि स १९९१
असोज सु १५ (शरद पू)

क्षुल्लिका दीक्षा आ श्री देशभूषणजी से श्री महावीरजी में
स २००९ चैत्र कृ १

आर्यिका दीक्षा आ श्री वीरसागरजी से माधोराजपुर (राज) में
स २०१३ वै कृ २

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित
वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आगमों का पोषण करनेवाले हिन्दी,
संस्कृत, प्राकृत कन्नड़ मराठी आदि भाषाओं के न्याय सिद्धान्त
अध्यात्म भूगोल खगोल व्याकरण आदि विषयों पर लघु
एवं वृहद् ग्रन्थों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन
होता है। समय समय पर धार्मिक लोकोपयोगी
लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती
रहती हैं।

ग्रन्थमाला सम्पादक

मोतीचंद जैन सर्राफ
शास्त्री न्यायतीर्थ

रवीन्द्रकुमार जैन
बी० ए०, शास्त्री

स्व० सेठ हरखचद जी सेठी
(पिता श्री निर्मलकुमारजी सेठी, सीतापुर)

प्रस्तावना

इस ग्रन्थ का नाम है दिगम्बर मुनि। यह नाम अपने आप मे अन्वय है। इस ग्रन्थ मे आदि से अन्त तक दिक् दिशा ही है अम्बर-वस्त्र जिनके' ऐसे दिगम्बर मुनियो की साधारण चर्या और विशेष चर्याओ का वर्णन है। यह ग्रन्थ तीन खण्डो में विभाजित है—

१ प्रथम खण्ड मे दिगबर मुनि दीक्षा क्यो ली जाती है? विरक्त श्रावक दीक्षा लेने का जब इच्छुक होता है तब गुरु के पास कैसे निवेदन करता है? गुरु उसे दीक्षा देते समय क्या-क्या निर्णय लेते हैं? इत्यादि बातो का सविस्तृत वर्णन है।

पुन गुरु शिष्य को २८ मूलगुण प्रदान करते हैं पिच्छी कमडलु और पुस्तक देते हैं। शिष्य भी अर्हत मुद्रा को धारण कर पाँचो परमेष्ठी के अन्तर्गत एक परमेष्ठी बन जाता है। २८ मूलगुणो के अन्तर्गत छह आवश्यक क्रियायें हैं—सामायिक स्तुति वदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। दिगम्बर मुनि इन क्रियाओ के पालन मे पूर्ण सावधान रहते हैं। इस खण्ड में इन क्रियाओ का सुन्दर विवेचन है। मुनियो की अहर्निश चर्या कैसी होनी चाहिये? अनगारधर्मामृत के आधार से इस अहोरात्रि चर्या का अच्छा विश्लेषण है।

मुनियो की अष्टमी चतुर्दशी आदि क्रियाओ का भी निरूपण किया गया है। दिगम्बर मुनि छयालीस दोष और बत्तीस अन्तरायो को टाल कर आहार ग्रहण करते हैं। अन पिंड शुद्धि के प्रकरण में छयालीस दोषो का और ३२ अन्तरायो का वर्णन किया गया है। दिगम्बर मुनियो की जो जो चर्यायें एक समान ही रहती हैं उन्ही का इस खण्ड मे विवेचन होने से यह सामान्यचर्या को निरूपण करने वाला है।

२ द्वितीय खण्ड मे मुनियो के भेद प्रभेद बतलाये गये हैं। आचार्य के छत्तीस उपाध्याय के पच्चीस और साधुओ के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। इन विशेष गुणो की अपेक्षा से दिगम्बर मुनियो में भेद हो जाते हैं। ऐसे ही सराग वीतरागचर्या की अपेक्षा उत्तरगुणो की अपेक्षा ऋद्धियो की अपेक्षा आदि कितने तरह से मुनियो मे भेद हो सकते हैं प्राय उन सबका इस खण्ड मे विवेचन है।

यहाँ पर यह बात समझने की है कि मुनि संघ के बिना धर्म की परम्परा नहीं चल सकती है। इसी का स्पष्टीकरण और भी देखिए श्री यतिवृषभाचार्य के शब्दों में—

गौतम स्वामी से लेकर अंग-पूर्व के एकदेश के जानने वाले मुनियों की परम्परा के काल का प्रमाण छह सौ तेरासी (६८३) वर्ष होता है। उसके बाद—

'जो श्रुततीर्थ धर्म प्रवर्तन का कारण है वह बीस हजार तीन सौ सत्रह वर्षों में काल दोष से व्युच्छेद को प्राप्त हो जायगा।'[१] अर्थात् ६८३ + २०३१७ = २१००० इक्कीस हजार वर्ष का यह पंचमकाल है तब तक धर्म रहेगा अन्त में व्युच्छेद को प्राप्त हो जायेगा।

इतने पूरे समय तक चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा, किंतु लोग प्रायः अविनीत दुर्बुद्धि असूयक सात भय व आठ मदों से संयुक्त शल्य एवं गारवों से सहित कलहप्रिय रागिष्ठ क्रूर एवं क्रोधी होंगे।[२]

इन पंक्तियों से बिल्कुल ही स्पष्ट है कि इक्कीस हजार वर्ष के इस काल में हमेशा चातुर्वर्ण्य संघ रहेगा ही रहेगा।

मुनि के अभाव में धर्म राजा और अग्नि का भी अभाव हो जायेगा यथा—

इस पंचम काल के अंत में इक्कीसवाँ कल्की होगा। उसके समय में वीरांगज नामक एक मुनि सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पंगुश्री नामक श्रावक युगल होंगे। एक दिन कल्की की आज्ञा से मंत्री द्वारा मुनि के प्रथम ग्रास को शुल्क रूप से मांगे जाने पर मुनि अंतराय करके वापस आ जायेंगे। उसी समय वे अवधिज्ञान को प्राप्त कर 'दुःषमाकाल का अंत आ गया है' ऐसा जानकर प्रसन्नचित्त होते हुए आर्यिका और श्रावक युगल को बुलाकर वे चारों जन चतुराहार का त्याग कर संन्यास ग्रहण कर लेंगे। और तीन दिन बाद कार्तिक कृष्णा अमावस्या के स्वातिनक्षत्र में शरीर को छोड़कर देवपद प्राप्त करेंगे।

उसी दिन मध्याह्नकाल में क्रोध को प्राप्त हुआ कोई असुरकुमार देव राजा को मार डालेगा और सूर्यास्त के समय अग्नि नष्ट हो जावेगी।

---

१ तिलोय० अ० ४ गाथा १४९३।

२ तत्तियमेत्ते काले जम्मिस्सदि चाउवण्णसंघाओ।

तिलोय० अ० ४ गा० १४९४ १४९५

इसके पश्चात् तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम छठा काल प्रवेश करेगा।

इन वीरांगज मुनि के पहले पहले इसी प्रकार मुनियों का विहार इस पृथ्वी तल पर होता ही रहेगा।

अगर यहां कोई शंका करे कि शान्तिसागर के पहले निर्ग्रंथ मुनि कहाँ थे ? अतः मुनि की अविच्छिन्न परम्परा कैसे मानी जा सकती है ?

तो यही उत्तर यही है कि उस समय भी दक्षिण में मुनि विचरते थे। हाँ इतना अवश्य हो सकता है कि वे अधिक प्रभावशाली नहीं हों। उदाहरण के लिये देखिये—

एक आदिसागर महाराज थे। इनका जन्म महाराष्ट्र के अंकली ग्राम में सन् १८६६ में हुआ था। इनका नाम शिवगोंडा था इन्होंने ईस्वी सन् १९०६ में क्षुल्लक दीक्षा ली एवं ६-७ वर्ष बाद मुनि दीक्षा ले ली। ये जब भोज ग्राम में जाते थे तो कभी आचार्य शान्तिसागर जी के घर इनका आहार हो जाता। आ० शान्तिसागर जी उस समय गृहस्थावस्था में थे। वे सुबह इन मुनिराज को अपने कंधे पर बिठाकर वेद गंगा और दूध गंगा नदी पार कराते थे। एक बार इन्होंने कहा—महाराज ! मैं आपको नदी पार कराता हूँ आप मुझे संसार समुद्र से पार करा दीजियेगा। ये आदिसागर महाराज परम तपस्वी थे सात दिन बाद आहार लेते थे और शेष दिन प्राय ध्यान में व्यतीत करते थे। उदगांव में इनकी समाधि हुई है।[२]

ऐसे ही और भी मुनि दक्षिण में रहते आये हैं जो कि प्रसिद्धि में नहीं आ पाये हैं।

पूज्य आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी ने कई बार अपने संघ में मुनि आर्यिकाओं को 'मूलाचार ग्रन्थ का आद्योपांत स्वाध्याय कराया है। पुनः सिद्धान्त चक्रवर्ती वसुनंदि आचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति टीका' सहित मूलाचार ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी किया है। उन्होंने समय की मांग के अनुसार दिगम्बर मुनि नाम से इस ग्रन्थ को लिखा है। पूज्य माता जी ने इस ग्रन्थ के लिखने में श्री कुन्दकुन्दकृत मूलाचार को ही मूल आधार बनाया है तथा आचारसार, अनगारधर्मामृत मूला

१ तिलोय० अ० ४ पृ० ३४४ ३४५।

२ आचार्य महावीर कीर्ति स्मृति ग्रन्थ (म० डा० नमिचन्द्र जैन पृ० ३९।

ग्रन्थ एव ग्रन्थकर्त्री

संसार की स्थिति के साथ-साथ समाज की स्थिति है। मानव समाज की स्थिति सर्वत्र परिवर्तित होती रही है। कभी उन्नति का और कभी अवनति का समय आता रहा है। जैनागम म इसे उत्सर्पिणी और अव सर्पिणी काल कहा है। प्रत्येक काल भोगभूमि एव कर्मभूमि नाम से दो भागो म विभाजित है। इस युग का आरम्भ भोगभूमि स है। अपने पूर्वोपार्जित कर्मफल के अनुसार प्रकृति के द्वारा प्रदत्त पदार्थों का भोग ही उनके लिए पर्याप्त था। आज की तरह विषमता नही थी। न धार्मिकता थी न अधार्मिकता। परिणामत वह न मोक्ष जाने हेतु साधनभूत थे न नरक जाने हेतु कर्म सचय करते थे। सभी सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते थे। लेकिन काल का चक्र सदा घूमता रहता है वह किसी को भी स्थिर नही रहने देगा। धीरे धीरे भोगभूमि का अत हुआ—लोगो मे सग्रह की प्रवृत्ति इच्छाओ की वृद्धि होने लगी फलत परस्पर मे कलह आदि होने लग तब क्रमश १४ कुलकरो ने जन्म लेकर प्रजा को नाना विध ज्ञानदान दिया। अतिम कुलकर नाभिराय के पुत्र देवाधिदेव भगवान् ऋषभदेव हुए जो जैनधर्म के आद्य प्रवर्तक हैं। उन्होने प्रत्येक प्राणी को आचार धर्म का सदुपदेश दिया जो आज जैनाचार कहा जाता है। जैनाचार का मूल अहिंसा है।

जैनाचार के दो रूप हैं—एक गृहस्थ (श्रावक) का आचार और दूसरा साधु (श्रमण) का आचार। ऊपर वर्णित अहिंसा और उसके मूलरूप सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सभी प्रकार के पापो से बचने के लिए मूल रूप हैं। इनका जो पूर्णरूपेण पालन करता है वह साधु या श्रमण कहलाता है तथा जो पूर्णरूपेण पालन नही कर पाता वह अणुव्रती या गृहस्थ (श्रावक) कहलाता है। प्राणी मात्र में दया क्षमा, नम्रता, सरलता सत्यवादिता सहिष्णुता पवित्रता परदुखकातरता सेवा परायणता अकिंचनता जैसे अनेकानेक गुणो का उत्पन्न करना जैनाचार का प्रधान लक्ष्य है।

मुनि आचार का आरभ २८ मूलगुणो स होता है। इन मूलगुणो का धारी अपनी मन वचन काय की शक्तियो पर नियन्त्रण करते हुए आत्म स्वरूप में मग्न होने का पुरुषार्थ करता है विषयों की तृष्णा का दमन

का पठन मनन और चिंतन कर जो अध्यात्म नवनीत अपनी लेखनी से प्रसूत किया उससे न केवल अध्यात्म और साहित्य की अभिवृद्धि हुई है अपितु माँश्री के नाम और यश शरीर को हमेशा के लिए स्थायी बना दिया। ज्ञानतेजस्विता के परिप्रेक्ष्य में जो निधियाँ आपने भेंट की वे निश्चित ही मील के पत्थर की भाँति ज्ञान जिज्ञासुओं को निर्देश करती हुई अमरकृतियों के रूप में आध्यात्मिक जगत् में अपना स्थायी नाम जोड़ जाएँगी।

आर्यिका श्री द्वारा लिखित अनूदित सम्पादित एवं पद्यानुवादित विपुल साहित्य सागर की संक्षिप्त जानकारी यहाँ प्रस्तुत की गई है जिससे समीक्ष्य ग्रन्थों के विषय सन्दर्भ में यथार्थ जानकारी जिनागम जिज्ञासुओं को प्राप्त करने में सुलभता होगी।

नारी जगत् के इतिहास में यह पहली मिसाल है जिसने बीसवीं शताब्दी में जिनागम के भण्डार को अपनी प्रखर प्रतिभा एवं सद्साहित्य के द्वारा समलंकृत कर भरा है। यथा नाम तथा साकार गुणों से वेष्टित ज्ञान और महाचरण की साकार प्रतिमूर्ति आर्यिका ज्ञानमती जी ने अबतक जितने विपुल साहित्य का सृजन किया है अनेक विद्वान् मिलकर भी उतना साहित्य इतने समय में साकार कर सकते ऐसी कम सम्भावना है।

१ करणानुयोगविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ—प्राचीन आगम ग्रन्थों में पूर्व आचार्यों द्वारा लोकरचना स्थिति एवं उसका स्वरूप प्रतिपादित किया है माँ श्री ने उस अत्यन्त सरलतम अभिव्यक्ति के रूप में मौलिक ढंग से प्रस्तुत करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। त्रिलोकभास्कर जैन ज्योतिर्लोक जम्बूद्वीप जैन करणानुयोग विषयक ग्रन्थ लिखकर गूढ़ क्लिष्ट और विस्तृत गणित प्रधान नीरस विषय को सरस सरल और सर्वजनहिताय रचकर अपनी ज्ञान प्रतिभा का व्यापक परिचय दिया है। चारों अनुयोगों के अध्ययन और चिंतन के साथ सिद्धान्त की गम्भीरता के साथ गहन अध्ययन का सुफल परिणाम माँ ज्ञानमतीजी की पाण्डित्यपूर्ण साहित्यिक रचना से जाना जा सकता है। क्लिष्ट प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में रचे गूढ़ ग्रंथों की रचना को अत्यन्त प्रवाहमय सुबोध सरल शैली में भाषानुवाद कर विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

२ पूजन विधान विषयक मौलिक ग्रंथ—भावनाओं की गहनता की अभिव्यक्ति की क्षमता कविहृदय में ही सम्भव है। आर्यिका ज्ञानमतीजी द्वारा रचित सातिशय आगमानुकूल पूजन विधानों में जम्बूद्वीप मण्डल पूजन विधान गणधर वलय पूजन सुदर्शन मेरु पूजन इन्द्रध्वज विधान आदि ग्रंथ भक्ति उपासना अर्चना के चरमोत्कृष्ट रूप हैं। जिसे भक्त यथाविधि व्यक्त कर सातिशय लाभ की प्राप्ति करता है। यह पूजन विधान सातिशय कल्याणकारी नानाविध छन्दों में गुम्फित अनेकानेक सद्भावों से आच्छादित हैं। भक्तिका चरमोत्कर्ष इनमें देखने को मिलता है। गेयता सरलता भावों की गहनता भाषा की प्राञ्जलता अलंकारों की प्रचुरता इनके गीत काव्य की मौलिक विशेषताएँ हैं।

३ विशिष्ट मौलिक ग्रन्थ—तीर्थंकर महावीर और धर्म तीर्थ आर्यिका बाहुबलि चरित्र काव्यमय भगवान् बाहुबलि चौबीस तीर्थंकर आदि ग्रन्थ प्रथमानुयोग के सन्दर्भ में माँ श्री द्वारा रचे गए हैं। इन पौराणिक आख्यानों को आधुनिक प्रयोग के सन्दर्भ में अत्यन्त सफल और प्रभावकारी माना गया है। आचरण की सुगन्धि और धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति इनके अध्ययन से समुपलब्ध होती है।

जैन भारती आत्मा की खोज दशलक्षण धर्म ऐसी प्रभावकारी कृतियाँ हैं जो व्यक्ति को आत्मीक गुणों की प्राप्ति में सहकारी हैं। भावाभिव्यक्ति चरित्र चित्रण और आत्मदर्शन के जिन सोपानों का आख्यान इन कृतियों में समाहारित है वह अपने आप में बेजोड़ है।

४ स्तुतियाँ एवं भक्तियाँ—आर्यिकाश्री का भाषागत अधिकार बेजोड़ है। उनका अध्ययन चिन्तन अपरिमाण में स्व कल्याण की प्राप्ति के मूलोद्देश्य से अर्पित किया गया है। ज्ञान की बहुमुखी उपलब्धि के लिए न्याय व्याकरण गणित जैसे क्लिष्ट, शुष्क नीरस विषयों में भी परमोत्कृष्ट दक्षता प्राप्त की तथा चारों अनुयोगों पर गहन व्यापक चिन्तन पूर्ण अध्ययन कर विषय पर अधिकार प्राप्त किया।

हमारे पूर्वाचार्यों ने संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में विशुद्ध भावों की सम्प्राप्ति हेतु जिनेन्द्र अर्चनविषयक भक्ति भाव युक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सातिशय अनेक भक्तियाँ रची हैं। पूज्य माँ श्री ने भी ऐसी ही विशिष्ट सातिशय भक्तियों स्तोत्रों की रचना कर उनका भाषागत पद्यानुवाद भी किया है। जो प्रत्येक जिज्ञासु के लिए एक अलौकिक निधि के रूप

मे उपलब्ध हैं। देवागम स्तोत्र सामायिक शान्तिभक्ति, समाधि भक्ति निर्वाण भक्ति आचार्य भक्ति नन्दीश्वर भक्ति चौबीस तीर्थंकर भक्ति, पंचगुरु भक्ति चैत्यभक्ति पात्रकेसरीस्तोत्र द्रव्य संग्रह, समाधिशतक, इष्टोपदेश आदि लगभग २ दशक स्तोत्रो भक्तियो, स्तुतियो का पद्यानुवाद किया।

इसके अलावा संस्कृत भाषा मे स्व रचित एवं हिन्दी पद्यानुवाद की गई स्तुतियो मे—बाहुबलि स्तोत्र त्रैलोक्य वदना, सम्मेदशिखर वदना चद्रप्रभु स्तुति जम्बूस्वामी स्तुति शान्तिनाथ स्तुति, आदि लगभग ३० स्तोत्रो की रचना कर विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। जैन वाङमय रूपी सागर से निकाल गए रत्नो जैसी वस्तु का समावेश इन प्रभावकारी कृतियो मे गुम्फित है। उपरोक्त संस्कृत स्वरचित स्तुति स्तोत्रो की पद छाया हिन्दी पद्यान्तर स्वयं माँ श्री ने करके असस्कृत ज्ञाता जना का महान् उपकार किया है। बालोपयोगी साहित्य—पूज्य माँ श्री ने अपनी विलक्षण तार्किक बुद्धि से बालमनोवैज्ञानिक स्थिति को भली प्रकार समझते हुए 'बालविकास नाम से चार भागो का प्रणयन किया जिसमे चारो अनुयोगो को सम्यक सरल सुबोध एवं मनोवैज्ञानिक आधेय आधार को दृष्टि म रखकर सचित्र रूप मे विषय वस्तु को क्रमिक ज्ञान क साथ प्रस्तुत किया जिससे बालको के कोमल मस्तिष्क मे धर्म और आचरण के पवित्र सस्कारो का अमिट प्रभाव पडता है। इसी शृंखला म 'भगवान् महावीर आदि छोटी छोटी कृतियाँ सचित्र प्रकाशित की गई है जो अपने आप मे प्रभावशाली हैं।

५ अनुवाद एव सम्पादन का महत्तर कार्य—मातृभाषा के अभाव मे पूर्वाचार्यों के ग्रंथो का तात्पर्य समझना सर्वथा सामान्य व्यक्तियो के लिए दुष्कर है। माँ श्री ने अष्टसहस्री, नियमसार लघीयस्त्रयी भावसंग्रह भावत्रिभंगी आस्रव त्रिभंगी कातन्त्र व्याकरण आलाप पद्धति जैनेन्द्र प्रक्रिया भगवती आराधना न्यायकुमुदचन्द्र जैसे महानतम सिद्धात न्याय-व्याकरण के क्लिष्ट सस्कृत प्राकृत भाषी ग्रन्थो की सुबोध सरल हिन्दी टीका करके लोकोत्तर कार्य किया है।

जैन वाङ्मय का सर्वाङ्गीण स्वरूप चार अनुयोगो मे अनुबद्ध है। इनका समन्वित रूप यदि किसी एक पत्रिका मे देखने को मिलता है तो वह सम्यग्ज्ञान मात्र ही एक मासिक पत्रिका है जो जैन पत्रकारिता के क्षेत्र म एक यही मासिक है जो एक साध्वी द्वारा पूरी तरह से चारों

अनुयोगो के परिप्रेक्ष्य में प्रकाशित होकर हजारो पाठका के लिए उनकी विभिन्न रुचियो का प्रतिनिधित्व करती है। इसक पठन पाठन से सैकडा परिवारा पर आश्चर्यकारी सातिशय प्रभाव पडे हैं।

आशा है मा श्री ज्ञानमती जी का यह साहित्य आगामी अनन्त पीढिया का महान् उपकार करेगा और यह दिगम्बर मुनि ग्रन्थ जीवो के लिए मोक्षपथ का साधन बनेगा।

जनकीर्ति स्तम्भ रोड
टीकमगढ
८९८०

विमलकुमार जैन सोंरया
आ० रत्न एम० ए० शास्त्री
प्रतिष्ठाचार्य

दिगम्बर जेन मुनि और हम

वर्तमान काल इतना संकटमय प्रतीत हो रहा है जैसे दिगम्बर जैन धर्म पर आक्रमण हो रहा हो। जिसका जो मन चाहता उसी प्रकार दिगम्बर धम को लक्ष्य करके लिख डालता है। उसे यह प्रतीत नहीं होता कि इसमे कितने प्राणियो की हिंसा वह अपनी लेखनी से वचनों से कार्यों से कर रहा है। सभी अपने को सिद्ध पुरुष मानकर चल रहे हैं। कोई अपने को सामान्यजन मानने को तैयार नही।

ऐसे समय मे दिगम्बर जनधम, दिगम्बर जैन मूर्ति दिगम्बर जन शास्त्र और दिगम्बर जैन गुरु की भक्ति, उपासना पूजा आदि सभी मन माने ढग से चला रहे हैं। असंयम की शरण में रात दिन लोगो को बुलाया जा रहा है। तन से, मन से धन से तीनो प्रकार से येन केन प्रकारेण आकर्षण किया जा रहा है।

कोई कहता व लिखता है कि दिगम्बर जैनधर्म श्वेताम्बर जैनधर्म से निकला है। कोई कहता है कि दिगम्बर जैनधम मे कुछ भी मौलिकता नही है। कोई लिखता है कि दिगम्बर जैन साहित्य वैदिक साहित्य श्वेताम्बर जैन साहित्य और अन्य धर्मों से चुराकर बना है। इनके पास (दिगम्बरो के पास) अपनी मौलिक सम्पत्ति है ही नही। इनके साधु भी ढोगी हैं भोगी हैं आराम तलब हैं मौज बहार के धनी हैं ऐशो आराम के आदी हैं। इन्हें पखे चाहिए, चटाइया चाहिए, महल भवन, मकान आधुनिक साज-सज्जा से युक्त चाहिए। अच्छे पटरे, अच्छी चटाइयां, अच्छा भोजन आदि चाहिये। न जाने कितने प्रकार के ओछे हथकडो से यह दिगम्बर जन गुरुओ की निन्दा म अग्रसर हैं।

दिगम्बर जैन मन्दिरो से प्राचीन हस्तलिखित शास्त्रो का मूर्तियों का अपहरण इन महान् विरोधियो के कारण रात दिन हो रहा है। मृगछाल ओढ़े यह भेडिये रात दिन दिगम्बर धर्म पर नाना प्रकार के लेबिल लगा कर उस पर आक्रमण कर रहे हैं। मारीच की संतानें दीपायन के अनुगामी आज सुन्दर दिगम्बर कहते कहते उसकी जड़ को उखाड़ फेंकने की

कोशिश मे रात दिन लगे हैं। यह सत्य-तथ्य छुपाये छुप नही पा रहा है।

कोई पूजन पद्धति मे सुधार चाहता है कोई प्रतिष्ठा विधान की आवश्यकता नही समझता, कोई मन्दिरो का निमाण नहीं चाहता कोई प्राचीन आचार्यों के शास्त्रो में पूण सुधार चाहता है। कोई आचाय समंतभद्र आचाय रविषेण आचार्य जिनसेन आचाय अकलंक देव आदि को काष्ठासंघी घोषित कर रहा है तो कोई सोमदेव सूरि को अश्लील बताता है तो कोई वतमान म भावलिंगी मुनि हैं ही नही—सभी द्रव्यलिंगी मुनि हैं। आज के युग में मुनि हो नही सकते यह सब जो वर्तमान मे हैं यह तो घर के दुखिया हैं पेट भरने को हैं आदि कहकर द्रव्यलिंगी घोषित करके धूम धाम से हर्षोत्सव मनाने में व्यस्त हैं।

खुल आम बडे सिद्धान्ताचाय 'त्यागधमका दाता कौन है ?'' शूद्र जल त्याग का नारा महान् मूल आचाय शातिसागर जी महाराज ने की—आदि लिखकर सन्तुष्ट हो रहे हैं। शिथिलाचार के युग में शिथिलाचार को बढावा देने का एक विधिवत् षड्यन्त्र देश समाज के सामने चल रहा है। जिस भयंकर स्थिति मे देश चारित्रहीन होने जा रहा है या चारित्र हीन बनाया जा रहा है उसमे यह धमद्रोही, समाजद्रोही तत्त्व अपना उल्लू साधने में लगे हैं। इनके साथ हैं वह कुछ महान् अथसम्पन्न पुरुष जो विधवा विवाह, अनाचार दुष्प्रवृत्तियो को बढावा दते हैं। जिनको अर्थ की गरिमा मे धर्म की गरिमा कुछ भी नही है।

दिगम्बर जैनधम पर कोई नया आक्रमण हुआ हो यह भी नही कहा जा सकता। इससे पहले भी भगवान् अजितनाथ स्वामी भगवान् श्रेयास नाथ स्वामी भगवान् अरहनाथ स्वामी भगवान् नेमिनाथ स्वामी भ० पाश्वनाथ स्वामी और भगवान् महावीर स्वामी के समय म भी आक्रमण हुए थे। घानियो मे कडाहो मे आरो से तीरो से तलवारो से दिगम्बर जैन मुनियो पर उपसग हुए। फिर भी दिगम्बर जैनधर्म को समाप्त न कर सके। फिर यह क्या कर सकेंगे ?

प्रात स्मरणीय चारित्रचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने दक्षिण भारत से विहार करके सन् १९२५ ई० से जो दिगम्बरत्व की चमक दमक उत्तर भारत में फैलाई उससे भयभीत होकर इन शिथिलाचारियो ने, वामपन्थियो ने एक गुट बना लिया और धीरे धीरे चमक दमक को नष्ट करने मे लग गये। लेकिन वह [illegible] में उनके जीवन काल तक अंश मात्र भी [illegible] न हो [illegible]

पूज्य आचार्य श्री के सल्लेखनाव्रत ने समाधिमरण ने भारत में ही नही विश्व मे एक हलचल दिगम्बर धर्म की प्रगट कर दी। उनके पट्टाधीश परम पूज्य चारित्र शिरोमणि श्री १०८ आचार्य वीरसागर जी महाराज ने गुरु परम्परा को अखंड रखा, उनके पट्टाधीश परम तपस्वी आत्म ध्यानी श्री १०८ आचार्य शिवसागर जी महाराज ने परम्परा पर कठोर नियंत्रण किया। आज उनके पट्टाधीन चारित्र शिरोमणि परमशांत स्वभावी परम दिगम्बर श्री १०८ आचार्य धर्मसागर जी महाराज अपनी परम्परा पर दृढ़ता से कायम हैं। चारित्र चक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शांतिसागर जी महाराज के शिष्यों मे परम तपस्वी चारित्र शिरोमणि आचार्य श्री १०८ मुनि नेमसागर जी महाराज पूज्य श्री १०८ आचार्य पायसागर जी महाराज पूज्य श्री १०८ आचार्य कुंथुसागर जी महाराज पूज्य आचार्य कल्प श्री १०८ मुनि चन्द्रसागर जी महाराज, पूज्य श्री १०८ आचार्य नमिसागर जी महाराज पूज्य श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी आदि ने दृढता से मुनि धर्म दिगम्बर धर्म की रक्षा की। आज वर्तमान मे परम पूज्य चारित्रशिरोमणि आचार्यरत्न श्री १०८ आचार्य देशभूषण जी महाराज श्री १०८ आचार्य विमलसागर जी महाराज श्री १०८ आचार्य सन्मतिसागर जी श्री १०८ आचार्य सुमतिसागर जी श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज, श्री १०८ आचार्य मुनि विद्यानंदजी (एलाचार्य) आदि परम्परा पर दृढ हैं। निंदक उनकी उनके शिष्यों की निन्दा मे तन्मय हैं तो वह अपने कर्त्तव्य पालन मे तन्मय हैं।

जिनकल्पी मुनि तो आज हमारे मध्य हैं नही स्थविरकल्पी मुनि हमारे मध्य हैं। जिनमे कुछ न कुछ कमी मिलना सम्भव है फिर २८ मूलगुणो मे उनके दोष हो तो उसे गुरु के समीप व्यक्त करके दूर किया जा सकता है। आगम की आज्ञा प्रमाण वर्तमान साधु मुनि अपनी चर्या आदि करते हैं। हाँ कुछ मुनि अवश्य शिथिलाचार का पालन कर रहे हैं जो दिगम्बर जैन साधुओ का उचित नही है। इसका यह अर्थ नही है कि दिगम्बर जैनधर्म मे मुनि आर्यिका ऐलक क्षुल्लक क्षुल्लिकायें और ब्रह्मचारी हैं ही नही। सभी मुनि भ्रष्ट हैं, सभी मुनि द्रव्यलिंगी हैं आदि।

हमारे सामने परमविदुषी आर्यिकारत्न न्याय प्रभाकर, सिद्धांतवाचस्पति विद्यावारिधि श्री १०५ आर्यिका ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित ४८ पुस्तको मे से दिगम्बर जैन मुनि ग्रन्थ है इस आदि से अन्त तक हम पढ़ जावें और विचारें कि हमारी मान्यता मे कहाँ कहाँ कमी आई है'

यदि इस ओर ध्यान शुद्ध मन से कया तो हमारा हमारे समाज का परम हित होगा।

मेरा अभिप्राय रंचमात्र भी किसी की आत्मा को कष्ट पहुंचाना नहीं है और न किसी को अपथ पथ पर चलने देने की भावना है। आत्मशुद्धि सभी करें यही भावना है। शिथिलाचार श्रावकों में अधिक बढ़ रहा है इसे अवश्य दूर करना हमारा धर्म है।

दिगम्बरत्व के विरोधियों को सद्मार्ग मिले यही कामना है।

अनन्तचतुर्दशी
बड़ौत (मेरठ)
२३.९.१९८० ई०

बाबूलाल जैन जमादार
महामंत्री अ० भा० दि० जैन शास्त्रि परिषद्
एवं
प्रचारमंत्री श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ)

सहायक ग्रंथों के नाम

१ मूलाचार
२ प्रवचनसार
३ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
४ आदिपुराण भाग १
५ आदिपुराण भाग २
६ आचारसार
७ अनगारधर्मामृत
८ शब्दार्णव चन्द्रिका
९ धवला ९ पुस्तक
१० क्रियाकलाप
११ मूलाराधना
१२ सागारधर्मामृत
१३ कषाय पाहुड (प्र० पु०)
१४ धवला प्र० पु०
१५ धवला ८ पु०
१६ वसुनन्दि श्रावकाचार
१७ प्रायश्चित्त चूलिका
१८ सर्वार्थसिद्धि
१९ मूलाचार प्रदीप
२० इष्ट छत्तीसी
२१ भावसंग्रह
२२ चारित्रसार
२३ तत्त्वार्थवृत्ति
२४ राजवार्तिक
२५ प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी
२६ गोम्मटसार जीवकाण्ड
२७ उपासकाध्ययन
२८ तिलोयपण्णत्ति २ भाग
२९ समयसार
३० नियमसार
३१ आत्मानुशासन
३२ रत्नकरण्डश्रावकाचार
३३ गोम्मटसार कर्मकाण्ड
३४ हरिवंश पुराण
३५ पद्मपुराण १ २ ३ भाग
३६ पंचसंग्रह
३७ धवला पु० २
३८ धवला पु० ५
३९ त्रिलोकसार
४० परमात्मप्रकाश
४१ धर्मध्यान दीपक
४२ ज्ञानार्णव
४३ श्रुतावतार
४४ भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परंपरा ४ भाग
४५ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास भाग २
४६ भट्टारक सम्प्रदाय
४७ गुर्वावली (डायरी से)
४८ नीतिसार
४९ दर्शनसार
५० पाण्डवपुराण
५१ आराधना कथाकोष
५२ जम्बूस्वामी चरित्र
५३ श्रेणिक चरित्र
५४ पद्मनन्दि पंचविंशतिका
५५ धन्यकुमार चरित्र
५६ भद्रबाहु चरित्र
५७ कातंत्ररूपमाला
५८ आचार्य कुंदकुंद और उनका समयसार (पं० लालबहादुर शास्त्री)
५९ पंचास्तिकाय
६० षट्प्राभृत
६१ पंचामृताभिषेक पाठ संग्रह
६२ महावीरकीर्ति स्मृति ग्रंथ
६३ श्री आचार्य देशभूषण जीवन चरित्र
६४ चारित्र चक्रवर्ती
६५ श्री वीरसागर चरित्र

ग्रंथमाला-परिचय

भगवान् महावीर स्वामी के पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव के पुनीत अवसर पर स्थापित 'दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान' के अन्तर्गत ग्रन्थ प्रकाशन हेतु 'वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला' की स्थापना सन् १९७४ वीर नि० सं० २५०० में हुई है। ग्रंथमाला का प्रथम पुष्प अष्टसहस्री (प्रथम भाग भाषानुवाद सहित) श्रीमान् सेठ हीरालालजी रानीवाला ब्यावर के द्रव्य से प्रकाशित हुआ है।

अन्य ग्रंथों के प्रकाशन की सुविधा के लिये १००१) एक हजार एक रुपये प्रदान करने वाले इस ग्रन्थमाला के सदस्य मनोनीत किये जाते हैं। कई ग्रंथों का प्रकाशन कार्य चल रहा है। ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित प्रत्येक ग्रंथ की एक एक प्रति ग्रंथमाला सदस्या को भेंट स्वरूप प्राप्त होती रहेगी। इस पुनीत कार्य हेतु निम्नलिखित धर्मानुरागी बन्धुओं ने १००१) रुपये प्रदान करके ग्रंथमाला में सहयोग प्रदान किया है।

१ श्री छोटेलाल कैलाशचन्द जैन सर्राफ टिकैतनगर (बाराबंकी)
२ श्री कुसुशाह प्रद्युम्न कुमार जैन सर्राफ टिकैतनगर (बाराबंकी)
३ श्री अमोलकचंद फूलचन्द्र सा सर्राफ सनावद (प० निमाड) म० प्र०
४ श्रीमती शांतिदेवी जैन, कश्मीरी गेट दिल्ली ६
५ श्रीमती इलायची देवी जैन, कश्मीरी गेट दिल्ली ६
६ श्रीमती केलकी देवी ध० प० श्रीमान् श्रीपति जी जैन, अजमेर
७ श्री उमेशचन्द जी जैन नजफगढ नई दिल्ली
८ श्री मागीलालजी पहाड़िया, हैदराबाद
९ श्री गिन्नीलालजी जैन कलकत्ता
१० श्रीमती जीऊबाईजी जैन हैदराबाद
११ श्री बालचंद चन्द्रकुमार जैन टिकैतनगर (बाराबंकी) उ० प्र०
१२ श्री रामचन्दजी ठकेदार जयपुर (राजस्थान)
१३ श्री मूलचन्दजी राधेलालजी बाणवाले जयपुर (राजस्थान)
१४ श्री लाला श्यामलालजी ठेकेदार दिल्ली
१५ श्री बहादुर सिंह जौहरी दरीबा दिल्ली
१६ श्री सुन्दरलालजी जैन सरूरपुरवाले गाधीनगर, दिल्ली
१७ श्रीमती मगनमाला देवी धर्मपत्नी डा० नरेन्द्रप्रसाद जी दिल्ली
१८ श्री हीरालाल कमलचन्दजी (हाथरसवाले) गाँधीनगर दिल्ली
१९ श्री अजितप्रसादजी जैन (हाथरसवाले) दिल्ली

विषयसूची

खण्ड १ दिगम्बर मुनियों की समाचार्या

स्वातन्त्र्य युग की ओर १
१ दीक्षा ६
२ मुनिचर्या १०
मूलगुण १०
दिगम्बर मुनि के बाह्य चिह्न १५
समाचार विधि १६
३ आहारशुद्धि २६
४ आवश्यक क्रिया ३७
५ नित्यनैमित्तिक क्रियायें ५७

खण्ड २ दिगम्बर मुनियों के भेद प्रभेद

१ आचार्य उपाध्याय साधु ९१
२ मूलगुण उत्तरगुण १ ५
साधु के उत्तरगुण १०५
शील के भेद ११४
चौरासी लाख उत्तर गुण ११६
आराधना से भेद ११७
मुनियों और आचार्यों में उत्तरगुण
और श्रुत से भेद ११८
३ ध्यान ११९
४ सल्लेखना १३१
५ गुणस्थान १४२
निर्जरा से भेद १४६
६ तीर्थंकर मुनि १४८
तीर्थंकरों की अपेक्षा मुनियों में भेद १४८
तीर्थंकरों का चतुर्विध संघ १५१
गणधरों की संख्या और ऋद्धियाँ १५३
आहारक तैजस ऋद्धि १६०

७ सरागी और वीतरागी मुनि ... १६२
संयम की अपेक्षा साधु म भेद ... १७३
चारित्र की अपेक्षा भेद ... १७६
८ पुलाक आदि मुनि ... १७९
९ जिनकल्पी स्थविरकल्पा मुनि ... १८६
१० चातुर्वण्यसंघ ... १९०
११ सदोषमुनि ... १९५

खण्ड ३ पंचमकाल में दिगम्बर मुनि

१ पंचमकाल मे गौतम स्वामी आदि ... २०१
२ गुर्वावली ... २०५
३ कुंदकुंद आदि आचार्य ... २१६
भगवान् कुंदकुंदाचाय ... २१६
यतिवृषभ ... २२१
शिवकोटि आचाय ... २२२
उमास्वामी ... २२२
समन्तभद्र ... २२३
सिद्धसेन ... २२५
पूज्यपाद ... २२६
अकलंकदेव ... २२९
मानतुंग आचार्य ... २३१
वीरसेन ... २३१
जिनसेन ... २३२
गुणभद्र ... २३२
विद्यानंद ... २३३
देवसेनाचार्य ... २३३
अमृतचंद्रसूरि ... २३३
नेमिचंद्र ... २३३
४ नाना मत-मतांतर ... २३५
५ वतमान में निर्दोष मुनि ... २४२
इस युग में निर्दोष साधु अंत तक रहेंगे ... २४२
६ उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के धुरंधराचार्य ... २४९
आचार्य शांतिसागर ... २४९

दिगम्बर मुनि

स्वातत्र्य सुख साधन की ओर

सिद्धिनाता को प्राप्त करने के इच्छुक कोई एक दिगंबर जैनाचार्य मुनियो की सभा में विराजमान हैं। कोई एक भव्य जीव वहाँ आकर आचायवय को पुन पुन नमस्कार करके विनयपूवक उनके चरण सानिध्य म वैठ जाता है और हाथ जोड कर प्रश्न करता है कि हे भग वन् ! आत्मा के लिए हितकर क्या है ? आचाय कहते हैं—आत्मा के लिए हितकर स्वतत्रता है।

वह स्वतत्रता क्या है ? और कहा है ?

कर्मों के बधन से पूणतया छूट जाना ही स्वतत्रता है जो कि मोक्ष में ही होती है।

कर्मों से छूटने का क्या उपाय है ?

ससार शरीर और भोगो से ममत्व छोडकर रत्नत्रय की साधना में लग जाना ही कर्मों स छूटने का अथवा मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

यदि ऐसी बात है तो हे गुरुदेव ! अब मैं इन कर्मों के बधन से छूटना चाहता हूँ अत अब मैं अपने आपको आपके श्री चरणो मे समर्पित करता हूँ। आप मुझे रत्नत्रय का दान दीजिये।

उस समय आचाय महाराज उस भव्य से कहते हैं कि यदि तुम संपूण दु खो से मुक्त होना चाहते हो तो यतिधम को स्वीकार करो[1]। जब वह तैयार हो जाता है तब आचाय कहते हैं कि हे वत्स ! घर जाकर अपने कुटुबी वर्गों से गृहत्याग की आज्ञा लेकर आ जावो और पुन जैने श्वरी दीक्षा ग्रहण करो। चूँकि जैन सिद्धात म मुनियो के लिए सबसे पहल किसी भी भव्यजीव को मुनिधम का उपदेश देने का ही विधान है।

---

१ 'पडिवज्जदु सामण्ण जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्ख ॥

—प्रवचनसार पृ० ४८५।

ॐ नम सिद्धेभ्य

वन्दना

सिद्धार्थस्यात्मज वदे, सिवसिद्धिप्रदायकम् ।[१]
चतुर्विंशतितीर्थेशान्, त्रैकालिकाश्च तान स्तुवे ॥१॥

अर्हत्सिद्धाश्च सूरीश्चोपाध्यायाश्च मुनीन् सदा ।
रत्नत्रयधरान् वदे, दिग्वासस पुन पुन ॥२॥

वाणी जिनमुखोद्भूता, हृदि सस्थाप्य भक्तित ।
गणेशाश्च त्रिधा वदे, सवविघ्नविनायकान् ॥३॥

दिगम्बरमुनेश्चर्यां, प्राप्तुकामा स्वसिद्धये ।
वक्ष्ये शास्त्रानुसारेण, भवभ्रमणसूदनीम् ॥४॥

याव मुक्तिन मे भूयात्, तावच्चर्याविधि हृदि ।
भावयित्वा च याचेऽह, सकल चरण मुदा ॥५॥

—आर्यिका ज्ञानमती

दिगम्बर मुनि

स्वातंत्र्य सुख साधन की ओर

सिद्धिकान्ता को प्राप्त करने के इच्छुक कोई एक दिगंबर जैनाचार्य मुनियों की सभा में विराजमान हैं। कोई एक भव्य जीव वहाँ आकर आचार्यवर्य को पुनः पुनः नमस्कार करके विनयपूर्वक उनके चरण सान्निध्य में बैठ जाता है और हाथ जोड़ कर प्रश्न करता है कि हे भगवन्! आत्मा के लिए हितकर क्या है? आचार्य कहते हैं—आत्मा के लिए हितकर स्वतंत्रता है।

वह स्वतंत्रता क्या है? और कहाँ है?

कर्मों के बंधन से पूर्णतया छूट जाना ही स्वतन्त्रता है जो कि मोक्ष में ही होती है।

कर्मों से छूटने का क्या उपाय है?

संसार शरीर और भोगों से ममत्व छोड़कर रत्नत्रय की साधना में लग जाना ही कर्मों से छूटने का अथवा मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

यदि ऐसी बात है तो हे गुरुदेव! अब मैं इन कर्मों के बंधन से छूटना चाहता हूँ अतः अब मैं अपने आपको आपके श्री चरणों में समर्पित करता हूँ। आप मुझे रत्नत्रय का दान दीजिये।

उस समय आचार्य महाराज उस भव्य से कहते हैं कि यदि तुम संपूर्ण दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो यतिधर्म को स्वीकार करो[1]। जब वह तैयार हो जाता है तब आचार्य कहते हैं कि हे वत्स! घर जाकर अपने कुटुंबी वर्गों से गृहत्याग की आज्ञा लेकर आ जावो और पुनः जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करो। चूँकि जैन सिद्धान्त में मुनियों के लिए सबसे पहले किसी भी भव्यजीव को मुनिधर्म का उपदेश देने का ही विधान है।

---

१ 'पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥'

—प्रवचनसार पृ० ४८५।

यथा— जो अल्पमति साधु यतिधर्म का उपदेश न करते हुए गृहस्थ धर्म का उपदेश द देता है उसको भगवान् अर्हतदेव के आगम में प्राय श्चित्त का भागी बतलाया है[1]।

इस नियम के अनुसार वे त्यागमार्ग का ही उपदेश देते हैं। पुन वह भव्यजीव अपने कुटुबियो के समक्ष निवेदन करता है कि हे मेरे शरीर के आश्रित माता पिता-बधु अथवा पुत्रजनो! सुनो इस संसार म परिभ्रमण करते हुए मुझे अनतकाल व्यतीत हो चुका है। अभी तक मैंने संसार में भ्रमण कराने के लिए कारणभूत ऐसे कर्मों के नाश का प्रयत्न नही किया हैं। अब मैं श्रीगुरुदेव के हस्तावलबन से इस ससार समुद्र को पार करना चाहता हूँ। इसलिए अब मैं आप सभी लोगो से सम्बध तोडकर धनधा य आदि परिग्रह का त्याग कर सच्चे आत्मिक स्वतत्र सुख का प्राप्त करने के लिए दिगबर अवस्था धारण करना चाहता हूँ। सो आप लोग खुशी से मुझे आज्ञा दीजिय। भगवान् श्री कुंदकुददेव भी कहते हैं—

श्रमण होने का इच्छुक वह भव्य बधु वर्गों से पूछ कर गुरुमाता पिता आदि तथा स्त्री और पुत्रो से छोडा गया वह दशन ज्ञान चारित्र तप और वीय इन पाच आचारो को प्राप्त कर लेता है[2]।' वह विरक्त मना श्रावक इस प्रकार पूछता है कि—

'अहो! इस पुरुष के शरीर के जनक पिता के आत्मा! अहो इस पुरुष के शरीर की जननी माता के आत्मा! इस पुरुष का मेरा आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित—उत्पन्न नही हुआ है ऐसा तुम निश्चय स जानो। इसलिए तुम इस आत्मा को छोडो। जिसे ज्ञानज्योति प्रकट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक और जनना के पास जा रहा है।[3] अर्थात् यह सम्यग्दृष्टि विरक्त आत्मा अपने कुटुबी

---

१ यो यतिधममकथयन् उपदिशति गृहस्थ धर्ममल्पमति ।
तस्य भगवत्प्रवचन प्रदर्शित निग्रहस्थानम ॥
श्री अमृतचद्रसूरि—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ।

२ आपिच्छ बधुवग्गं विमोचिओ गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदसणचरित्ततववीरियायारं ॥२०२॥ —प्रवचनसार।

३ अहो इद जनशरीरजनकस्यात्मन् अहो इद जनशरीरजनन्या आत्मन अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्या जनितो भवतीति निश्चयन युवा जानीत तद इममात्मानं युवां विमुञ्चत अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योति आत्मान मवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति। —टीका श्री अमृतचंद्रसूरि पृ ४९१।

वग माता पिता आदि को कहता है कि हे मेरे शरीर संबंधी आत्मन्! तुमने मेरी आत्मा को जन्म नहीं दिया है अथवा अपने पुत्रों से कहता है कि हे मेरे शरीर संबंधी पुत्रों के आत्मन्! मैंने तुमको जन्म नहीं दिया है। माता पिता के द्वारा तो केवल इस आत्मा के संबंधी शरीर का ही जन्म होता है इसलिए अब तुम लोग मुझे छोड़ो—मेरे से ममता का त्याग करो। मैं अब अनादिकालीन अपनी ही आत्मा का आश्रय लेना चाहता हूँ। इत्यादि प्रकार से बंधु वर्गों को समझाकर और उनकी आज्ञा लेकर दीक्षा के सन्मुख होता है।

भगवान् तीर्थंकर भी बंधु वर्गों से आज्ञा लेते हैं। यथा—

तदनंतर अविनाशी भगवान् महाराज नाभिराज आदि परिवार के लोगों से पूछकर इन्द्र के द्वारा बनाई हुई सुंदर सुदर्शना नामक पालकी पर बैठे।

यदि कदाचित् मोही या अज्ञानी जीव आज्ञा नहीं देते हैं और दीक्षार्थी का मन सुदृढ़ है तो वह बिना आज्ञा के भी दीक्षा ले लेता है। जैसे कि सुकुमाल सुकौशल आदि श्रावकों ने बिना पूछे ही मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

वर्तमान में भी दोनों मार्ग प्रचलित हैं—बहुत से श्रावक आज्ञा लेकर दीक्षित होते हैं और बहुत से श्रावक दृढ़मना होने से आज्ञा न मिलने पर भी दीक्षित हुए हैं।

---

१ सुरेन्द्रनिर्मितां दिव्यां शिबिकां च सुदर्शनाम्।
सनाभीन् नाभिराजादीनापृच्छ्याध्यास्त सोऽक्षरः ॥९३॥

—आदिपुराण पर्व १६ पृ ३८१।

१ दीक्षा

जो श्रमण है, गुणों से परिपूर्ण है, कुल रूप तथा वय से विशिष्ट है और अन्य श्रमणों—मुनियों को अतिइष्ट है ऐसे आचार्य को 'हे भगवन्! मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर प्रणाम करता है और आचार्य के द्वारा अनुगृहीत किया जाता है। पुनः वह 'मैं किंचित् मात्र भी पर का नहीं हूँ, पर भी किंचित् मात्र मेरे नहीं हैं। इस लोक में आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी मेरा नहीं है' इस प्रकार निश्चय करके जितेन्द्रिय होता हुआ 'यथाजात' रूपधारी हो जाता है।

जन्मसमय के जैसा रूपवाला, शिर और दाढ़ी मूँछ के केशों का लोंच किया हुआ, परिग्रहरहित, हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म—शरीर शृङ्गारादि से रहित ऐसा लिंग यतिधर्म का बहिरंग चिह्न है। मूर्छा और आरंभरहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षा से रहित ऐसा जिनेन्द्रदेव का लिंग श्रमणअवस्था का अंतरंग लिंग है जो कि अपुनर्भव मोक्ष का कारण है। तत्पश्चात् परमगुरु के द्वारा प्रदत्त उन दोनों लिंगों को ग्रहण करके उन्हें नमस्कार करके व्रतसहित क्रिया को सुनकर प्रतिक्रमण आदि के द्वारा उपस्थित होता हुआ वह श्रमण होता है।

व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, लोंच, आवश्यक, अचेलत्व, अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त—श्रमणों के इन अट्ठाईस मूलगुणों को जिनेन्द्रदेव ने कहा है। उनमें प्रमत्त होता हुआ श्रमण छेदोपस्थापक होता है। अर्थात् इन भेदरूप मूलगुणों में अपने को स्थापित करता हुआ—मूलगुणों में भेदरूप से आचरण करता हुआ छेदोपस्थापक कहलाता है[2]।

---

१ अथवा छेदेन व्रतभङ्गेनोपस्थापनं छेदोपस्थापनं—टीका।

२ समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥२०३॥
णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥२०४॥

इस प्रकार से आध्यात्मिक ग्रन्थ प्रवचनसार में भी चरणानुयोग चूलिका में भगवान् श्री कुन्दकुन्ददेव ने दीक्षा का क्रम बताया है। अब आचारसार आदि ग्रन्थों में दीक्षा के योग्य पात्र का कथन जैसा बताया है वैसा यहाँ कहते हैं।

जो आचार्य लोकव्यवहार की सब बातों को जानने वाले हैं मोह रहित और बुद्धिमान् हैं उनको सबसे पहले यह मालूम कर लेना चाहिए कि यह देश अच्छा है या नहीं ? दीक्षा का योग्य है या नहीं ? मुनियों के लिए निर्वाह योग्य है या नहीं ? दीक्षार्थी पुरुष ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णों में से किस वर्ण का है ? अथवा पतित या बहिष्कृत तो नहीं है ? उसके सब अंग पूर्ण हैं या नहीं ? यदि अपूर्ण हों तो दीक्षा का पात्र नहीं है। वह राज्य अथवा लोक के विरुद्ध तो नहीं है ? इसने कुटुम्ब और परिवार जनों से आज्ञा ले ली है या नहीं ? इसका घर आदि सम्बन्धी मोह नष्ट हो गया है या नहीं ? यह अपस्मार—मृगी आदि रोग से सहित तो नहीं है इत्यादि बातों का उसी के जाति तथा कुटुम्ब के लोगों से पूछ कर निर्णय कर लेते हैं[1]।

श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्य भी कहते हैं कि—

कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धि को सज्जाति कहते हैं, इस सज्जाति के प्राप्त होने पर सहज ही प्राप्त हुए गुणों से रत्नत्रय की प्राप्ति

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥२०६॥
आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥२०७॥
वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवासयमचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥ —प्रवचनसार

1 प्रागेव शास्त्रलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन।
प्राग्विज्ञातः सुदेशो द्विजनृपतिवणिग्वर्णवर्योऽङ्गपूर्णः ॥
भूभृल्लोकाविरुद्ध [illegible]
चित्तापस्माररोगाद्यपगत [illegible]

सुलभ हो जाती है। यह सज्जाति उत्तम शरीर के जन्म से ही प्राप्त की गई है क्योंकि पुरुषों के समस्त इष्ट पदार्थों की सिद्धि का मूल कारण यही एक सज्जाति है[1]।

जिसमें यह निश्चय कि उपर्युक्त गुणों से युक्त भव्य जीव ही जो इसकी दीक्षा के लिए पात्र होता है। तब आचार्यदेव उसको दीक्षा के लिए शुभ मुहूर्त का निर्णय करके संघ को और जनता को सूचित कर देते हैं। कहा भी है—'मुमुक्षु पुरुष को शुभ तिथि शुभ नक्षत्र शुभयोग शुभ लग्न और शुभ ग्रहों के अंश में निर्ग्रंथ आचार्य के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए[2]।

दीक्षा के पूर्व दिन भोजन के समय वह दीक्षार्थी गुरु के पास विधिवत् पात्र में भोजन करने का त्याग करके करपात्र में भोजन ग्रहण करके जिनमंदिर में आता है पुनः दीक्षा के लिए उपवास ग्रहण करने के लिए बृहत्प्रत्याख्यानप्रतिष्ठापन क्रिया में सिद्धभक्ति और योग भक्ति पढ़कर गुरु के पास उपवास सहित प्रत्याख्यान ग्रहण करके—आचार्य भक्ति शांति भक्ति और समाधि भक्ति पढ़कर गुरु को नमस्कार करता है।

पुनः दीक्षादाता—शोभा दिलानेवाले श्रावक उस दीक्षार्थी से शांति विधान गणधर वलयविधान या चारित्रशुद्धि विधान आदि कोई विधान कराते हैं। यदि विधान का कार्यक्रम बड़ा है तो कई दिन पूर्व से ही विधान प्रारम्भ कर देते हैं। यदि दीक्षार्थी स्वयं संपन्न है तो वह अपने द्रव्य से ही विधान आदि कार्य करता है। अनंतर दीक्षादाता श्रावक उस दीक्षार्थी को दीक्षा के दिवस मंगल स्नान कराकर यथायोग्य वस्त्र

---

१ विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता।
यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥८७॥
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता।
एतन्मूला यतः सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥८८॥
—आदिपुराण पर्व ३९ पृ २७७।

२ प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्नग्रहांशके। निर्ग्रन्थाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥१५७॥
—आदि पु पर्व ३९ पृ २८३।

३ पूर्वदिने भोजनसमये भाजनतिरस्कारविधिं विधाय आहारं गृहीत्वा चैत्यालय आगच्छेत्। ततो ।
—बृहद्दीक्षाविधि क्रियाकलाप पुस्तक पृ ३३३।

अलंकार आदि से युक्त कर महामहोत्सव (बाजे-गाजे) के साथ उसे जिन मंदिर में लाते हैं। वह दीक्षार्थी देव शास्त्र और गुरु की पूजा करके वैराग्य भावना में तत्पर होता हुआ सभी से क्षमा याचना करके गुरु के पास बैठ जाता है।

वहां पर दीक्षाविधि कराने वाले विद्वान् के कहे अनुसार पहले से ही सौभाग्यवती स्त्रियां पाट पर धुले चावल फैलाकर उसपर पीले चावलों से स्वस्तिक बनाती हैं और उसके ऊपर श्वेतवस्त्र ढक देती हैं। दीक्षार्थी विनय से खड़ा होकर और हाथ में श्रीफल लेकर संघ के समक्ष गुरुदेव से दीक्षा की याचना करता है कि हे भगवन्! मुझे संसार समुद्र से पार करने वाली ऐसी जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान करके मुझ पर अनुग्रह कीजिये। उस समय गुरुदेव उसकी प्रार्थना स्वीकार करके उसे उस स्वस्तिक के आसन पर बैठने की आज्ञा देते हैं। वह शिष्य पूर्व दिशा में मुख करके पर्यंकासन से उसपर बैठ जाता है और गुरु भी वहीं पर पास में उत्तरमुख करके बैठ जाते हैं पुनरपि सभी संघ को पूछकर सबसे पहले दीक्षार्थी का लोच शुरू करते हैं।

उस समय आचार्यदेव उस शिष्य के मस्तक पर मंत्रोच्चारण पूर्वक गंधोदक लगाते हैं। पुनः वर्धमान मंत्र के द्वारा पीले अक्षत आदि निक्षेपित करके भस्म (राख) लगाकर विधिवत् मंत्रपूर्वक केशलोच विधि करते हैं। वह शिष्य यदि केशलोच करने में कुशल है तो स्वयं अपने हाथ से केशलोच करता है। अन्यथा अन्य साधु उसका केशलोच पूरा करते हैं[1]। पुनः वह गुरुभक्ति करके गुरु की आज्ञा से अपने वस्त्र आभूषण यज्ञोपवीत आदि का त्याग करके उसी आसन पर बैठकर दीक्षा की याचना करता है। आचार्यदेव उसके मस्तक पर श्रीकार लिखकर विधिवत् अट्ठाईस मूलगुण रूप व्रत प्रदान करते हैं।

लवंग पुष्पों से सोलह संस्कारों को मस्तक पर आरोपित करके संयम का उपकरण पिच्छी, ज्ञान का उपकरण शास्त्र और शौच का उपकरण कमंडलु देते हैं। इस प्रकार से विधिवत् दीक्षाविधि समाप्त होने पर वह शिष्य दिगंबर मुनि बन जाता है और सारे विश्व में पूज्य हो जाता है। ■

---

१ स्वहस्तेन परहस्तेनापि वा लोचः कार्यः —बृहद्दीक्षाविधि

करना चाहिये। केशलुंच करना परिग्रह और तिरस्कार आदि दोषों से बचने के लिये ही यह लोच किया है। यह भी एक मूलगुण है। लोच के समय मौन रखना चाहिये।

अस्नानशरीरता—शरीर से मल का त्याग न करना। स्नान मुनि गण जलस्नान शरीर का उबटन तेल आदि लगाकर अभ्यंग स्नान नहीं करना दांतों मूंछों का संस्कार तथा ओष्ठ आदि का संस्कार नहीं करते हैं। मुनि इन वस्तुओं आदि से पुष्प माला आदि से शरीर को नहीं सजाते हैं। इस प्रकार शरीर संस्कार स्नान आदि नहीं करने पर ये मुनि अत्यंत मल मलिन शरीर के धारी होने पर भी ब्रह्मचर्य से पवित्र होने से पूज्य होते हैं। मुनि अस्नान व्रत भी एक मूलगुण है।

प्रतिलेखन—जिससे प्रतिलेखन-शोधन या संमार्जन किया जाय वह प्रतिलेखन है। यहाँ मयूर के पंखों की पिच्छिका को प्रतिलेखन कहते हैं। कार्तिक[2] मास में स्वयं ही मयूर अपने पंखों को छोड़ देते हैं उन्हें ही ग्रहण कर यह बनाई जाती है।

दीक्षा के समय आचार्य इस संयम के उपकरण रूप पिच्छिका को जीव दया पालन हेतु शिष्यों को देते हैं।

आजकल कार्तिक मास में संघ में ये पिच्छिकायें प्राय आर्यिकाओं द्वारा बनाई जाती हैं पुन आचार्य चातुर्मास समाप्ति पर चतुर्विध संघ के समक्ष स्वयं नूतन पिच्छिका ग्रहण करके सभी शिष्यों को नूतन पिच्छिका देते हैं।

इसमें पाँच गुण होते हैं—धूलि का ग्रहण नहीं करना, पसीने से मलिन नहीं होना मृदुता, सुकुमारता और लघुता।[3]

यदि यह धूलि को ग्रहण करे तो इससे पसीने सहित का परिमार्जन नहीं बनेगा या सचित्त से अचित्त अचित्त से सचित्त धूलि के परिमार्जन में दूषण आयेगा। यह पसीने को ग्रहण करे तो पुन पुस्तक आदि का

१ लोचप्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत हो जाता है। ऐसा प्रतिक्रमण के प्रकरण में कहा गया है।

२ मत्स्वति कार्तिके मासि काय मत्प्रतिलेखन।
स्वयं पतितपिच्छाना लिंग चिह्नं च योगिभि ॥—मूलाचार प्रदीप पृ० ३३१।
कार्तिक मास में मयूरों के पंख स्वयं गिरते हैं। —मूलाचार पृ ४४२।

३ रजसेदाणमगहण मद्दवसुकुमालदा लहुत्त च।
जत्थेदे पचगुणा त पडिलिहण पससति ॥१९॥
—मूलाचार पृ० ४४० मूलाराधना पृ० ३३६

परिमाजन नही बनेगा। इसलिए धूलि और रज को ग्रहण न करने से सदैव सभी वस्तु का प्रतिलेखन बन जाता है। इसका स्पर्श बहुत ही कोमल है। नेत्र में घुमाने पर भी बाधा नहीं होता है। सुकुमार—नम्र शील है मृदु जाती है अन्यथा कठोर होने से इससे जीवों को बाधा हो सकती है और लघु है—हल्की है।

प्रतिलेखन का कार्य— ईर्यापथ से गमन करने में यदि त्रसजीव बहुत हैं तो उन्हें पिच्छी से दूर किया जाता है। क्षेत्र या धूलि का रंग बदलने पर या धूप से छाया में और छाया से धूप में जाते समय साधु अपने सर्वांग को पिच्छी से परिमार्जित करके पैर की धूलि को पिच्छी से हटाकर आगे बढते हैं। अथवा जल में प्रवेश करना हुआ तो पैर की धूलि झाडकर जल में प्रवेश करते हैं[1]। मार्ग में गमन करते समय जल के आने पर घुटने तक जल में प्रवेश करने से एक कायोत्सर्ग करना होता है। यदि उससे अधिक जल होना है तो उस जल की अधिक अधिक जल के प्रमाण से गुरु से प्रायश्चित्त ग्रहण करना होता है[2]। इसी प्रकार पुस्तक कमंडलु आदि के ग्रहण करने में, रखने में मल मूत्रादि विसर्जन के स्थान में खड़े होने में बैठने में सोने में सीधे सोने में करवट बदलने में हाथ पैर आदि फैलाने में उनके सकोचने में शरीर आदि के स्पर्श करने में अन्य भी किन्हीं कार्यों में साधु सावधान होते हुए अपनी पिच्छिका से परिमाजन कर त्रस आदि जीवों की रक्षा करते हैं।

श्री कुन्दकुन्द स्वामी भी कह रहे हैं—

जो द्वीन्द्रिय आदि प्राणी सूक्ष्म हैं वे चर्म चक्षु से नहीं दिखते हैं। इसीलिए जीवदया हेतु पिच्छी धारण करना चाहिए। मलमूत्र विसर्जन करना रात्रि में सोया हुआ साधु जब उठकर बैठता है और पुन सोता है करवट बदलता है हाथ पैर फैलाता है इत्यादि कार्यों में यदि पिच्छी से परिमाजन किये बिना ये क्रियायें करता है तो नियम से जीव हिंसा होती है। नेत्र में घुमाने पर भी इससे पीडा न होने से यह प्रतिलेखन

---

१ मार्गे गच्छत सयतस्य स्वपादनिभप्रदेशे पिपीलिकाद्यो दुष्परिहारा यदि स्यु यदि वा प्राक्पश्चावलग्नरजसो विरुद्धयोनित्तराभूमिर्वा गन्तव्या जले वा प्रवेष्टव्य तदा तत्पिपीलिकारज प्रभृति लेखनेन निराक्रियते।

—मूलाचार टी० पृ० २८४।

२ जानुध्ने तनूत्सर्ग क्षमण चतुरगुले।
द्विगुणा द्विगुणास्तस्मादुपवासा स्युरम्भसि ॥३९॥ —प्राय० स

सूक्ष्मत्वादि गुणयुक्त मयूरपिच्छिका ग्रहण करना चाहिए। खड़े होने में, चलने आदि क्रियाओं में इस प्रतिलेखन से शोधन किया जाता है इस लिए स्वपक्ष में जैन मुनियों के चिह्न में यह एक विशेष चिह्न है[1]।

जो मुनि अपने पास पिच्छी नहीं रखते हैं वे उपर्युक्त क्रियाओं में जीवों के घात से नहीं बच सकते हैं अतः उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अन्यत्र भी कहा है— कोई साधु बिना पिच्छी सात कदम गमन करे तो एक कायोत्सर्ग से शुद्ध होता है। यदि एक कोश गमन करे तो एक उपवास से शुद्ध होता है तथा आगे दूना दूना प्रायश्चित्त है[2]।

यह पिच्छी जिनमुद्रा का चिह्न है, मुद्रा ही सर्वत्र मान्य होती है और मुद्रा रहित मनुष्य मान्य नहीं होता है[3]।

साधु सामायिक, वंदना, चतुर्विंशतिस्तव आदि के समय भगवान् को नमस्कार करते समय और गुरुओं को नमस्कार करते समय दोनों हाथों में पिच्छी को लेकर अंजुलि जोड़कर अर्थात् पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर वंदना आदि करते हैं[4]।

---

१ सुहुमा संति पाणा दुप्पेक्खा अक्खिणो अगेज्झा हु।
तम्हा जीवदयाए पडिलेहं धारए भिक्खू ॥२०॥
उच्चारं पस्सवणं णिसि सुत्तो उट्ठिदो हु काऊण।
अप्पडिलिहिय सुवंतो जीववहं कुणदि णियदं तु ॥२२॥
ण य होदि णयणपीडा अच्छिं पि भमाडिदे दु पडिलेहे।
तो सुहुमादी लहुओ पडिलेहो होदि कादव्वो ॥२३॥
ठाण चंकमणादाण णिक्खेवे सयणआसणपयत्ते।
पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सपक्खे ॥२४॥
ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं।
दसकत्तरिठाणगदं णिप्पिच्छं णत्थि णिव्वाणं ॥२५॥

—मूलाचार पृ० ४४१, ४२।

२ सप्तपदेषु निष्पिच्छः कायोत्सर्गाद्विशुध्यति।
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ॥८४॥ —प्राय० चू०

३ मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते ॥ —नीतिसार

४ पडिलिहियअंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू ॥३९॥ —मूला० पृ० ४११।
टीका— "प्रतिलेखन सहितांजलिकरो।

इस प्रकार से पिच्छिका के गुण और कार्य बताये है। ये साधु स्व भी अपने हाथ से पिच्छी बना सकते हैं। अथवा श्रावक जन बनाकर प्रदान करते हैं। कहा भी है—

'यदि स्वाध्याय व्याख्यान आदि क्रियाओ को न छोडकर अवकाश के समय साधु पुस्तक पिच्छी आदि उपकरण बनाता है तो प्रायश्चित नही है यदि क्रिया मे बाधा करके बनावें तो प्रायश्चित्त है'।

समाचार विधि

सम के भाव को समता कहते हैं अर्थात् रागद्वेष का अभाव सो समाचार कहलाता है। अथवा त्रिकाल देव वदना या पच नमस्कार रूप परिणाम समता है या सामायिकव्रत समता है इस प्रकार के आचार को समाचार कहते है। अथवा सम—सम्यक निरतिचार मूलगुणो का अनुष्ठान आचार सो समाचार है अथवा सभी मे पूज्य या अभिप्रेत जो आचार है वह समाचार है।

इस समाचार के दो भेद हैं—औघिक और पदविभागिक। सामान्य आचार को औघिक समाचार कहते हैं। तथा सूर्योदय से प्रारंभ कर अहोरात्र मे जितना आचार मुनियो के द्वारा किया जाता है उसे पद विभागी समाचार कहते हैं।

औघिक समाचार के दस भेद

१ इच्छाकार—सम्यग्दर्शन आदि इष्ट को रुप से स्वीकार करना।

२ मिथ्याकार—व्रतादि में अतिचारो के होने पर मेरा दुष्कृत मिथ्या होवे ऐसा कहकर उनसे दूर होना।

३ तथाकार—गुरु के मुख से सूत्राथ सुनकर यही ठीक है ऐसा अनुराग व्यक्त करना तथाकार है।

४ आसिका—जिन मंदिर, वसतिका आदि से निकलते समय असही शब्द से वहा के व्यंतर आदि से पूछ कर जाना।

५ निषधिका—जिन मंदिर वसतिका आदि में प्रवेश के समय निसही शब्द से वहा के व्यंतरादि से पूछकर प्रवेश करना।

६ आपृच्छा—गुरु आदिको से वंदनापूर्वक प्रश्न करना। आहार आदि के लिए जाते समय पूछना।

७ प्रतिपृच्छा—किसी बडे कार्य के समय गुरु आदि से बार-बार पूछना।

प्रायश्चित्तसमुच्चय पृ० ५७।

८ छंदन—उपकरण आदि के ग्रहण करने में या वंदना आदि क्रियाओं में आचार्य के अनुकूल प्रवृत्ति करना।

९ सनिमंत्रण—गुरु आदि से विनय पूर्वक पुस्तक आदि की याचना करना।

१० उपसपत्—गुरुजनो के लिए 'मैं आप का ही हूं' ऐसा आत्म समर्पण करना।

उपसपत् के पाच भेद हैं—विनयोपसपत्, क्षेत्रोपसपत्, मार्गोपसपत्, सुखदु खोपसपत और सूत्रोपसपत।

१ अन्य सघ से विहार करते हुए आये मुनि को पादोष्ण या अतिथि मुनि कहते हैं। उनका विनय करना आसन आदि देना, उनका अ मर्दन करना प्रियवचन आदि बोलना। आप किस आचार्य के शिष्य हैं? किस मार्ग से विहार करते हुए आये हैं। ऐसा प्रश्न करना उन्हें तृण सस्तर फलक-संस्तर पुस्तक पिच्छिका आदि देना उनके अनुकूल आचरण करना अथवा उन्हें सघ मे स्वीकार करना विनयोपसपत् है।

२ जिस क्षेत्र—देश में सयम गुण शील, यम नियम आदि वृद्धिगत होते हैं उस देश में निवास करना क्षेत्रोपसपत् है।

३ आगतुक मुनि से मार्गविषयक कुशल पूछना अर्थात् आप का अमुक तीर्थ क्षेत्र या ग्राम को जाकर सुखपूर्वक आगमन हुआ है न? तथा मार्ग में आपके सयम तप ज्ञानादि में निर्विघ्नता थी न? इत्यादि सुख प्रश्न आपस में पूछना मार्गोपसंपत है।

४ आपस में वसतिका आहार औषधि आदि से जो उपकार करना है वह सुखदु खोपसपत् है। अर्थात् जो आगतुक मुनि आहार वसतिका आदि से सुखी हैं उनको शिष्य आदि का लाभ होने पर कमडलु आदि दान देना रोग पीडित मुनियों की प्राप्ति होने पर सुख शय्या, आसन औषधि अन्न पानादि के द्वारा उपचार करना और मैं आपका ही ऐसा बोलना यह सब सुखदु खोपसपत है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि साधु साधु के लिए आहार वसतिका या औषधि का दान कैसे करेंगे? सो योग्य वसति में उनकी व्यवस्था कराना श्रावकों द्वारा आहार औषधि की व्यवस्था कराना ही उनके द्वारा दातव्य है सो वे करेंगे ही।

१ सुहदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहि।
तुम्हं अहंति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया ॥१४३॥ —मूलाचार—
टीकामें— "सुखशय्यासनौषधान्नपानमर्दनादिभिरुपकार"

५. सूत्र पठन में प्रयत्न करना सूत्रावश्यकत् है। सूत्र के लौकिक वैदिक और सामायिक की अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं। गणितादि शास्त्र लौकिक सूत्र हैं, सिद्धान्त शास्त्र वैदिक कहलाते हैं इन सबको सूत्र वैदिक सूत्र हैं और तर्कशास्त्र को समय कहते हैं। इन सबका शास्त्र सामायिक हैं ऐसे तीन प्रकार के सूत्र अर्थ और उभय को प्रयत्न पूर्वक पढ़ना आदि सो भेदरूप सूत्रावश्यकत् है।

इस प्रकार से औधिक अर्थात् संक्षिप्त या सामान्य समाचार के दस भेद बताये गये हैं।

पदविभागिक समाचार—कोई धैर्य वीर्य उत्साह आदि गुणों से सहित मुनि अपने गुरु के पास उपलब्ध शास्त्रों को पढ़ कर अन्य आचार्य के पास यदि और विशेष अध्ययन के लिए जाना चाहता है तो वह अपने गुरु के पास विनय से अन्यत्र जाने हेतु बार बार प्रश्न करता है। अवसर देख कर तीन पाँच या छह बार प्रश्न करता है। पुनः दीक्षागुरु और शिक्षागुरु से आज्ञा लेकर अपने साथ एक दो या तीन मुनिवरों को लेकर जाता है। क्योंकि सामान्य मुनियों के लिए आगम में एकल विहारी की आज्ञा नहीं है[1]।

साधु का एकलविहारी होने का निषेध

विहार के गृहीतार्थ विहार और अगृहीतार्थ विहार ऐसे दो भेद हैं। इनके सिवाय तीसरे विहार की जिनेश्वरों ने आज्ञा नहीं दी है[2]।

जीवादि तत्त्वों के स्वरूप के ज्ञाता मुनियों का जो चारित्र का पालन करते हुए देशान्तर में विहार है वह गृहीतार्थ विहार है। और जीवादि तत्त्वों को न जान कर चारित्र का पालन करते हुए जो मुनियों का विहार है वह अगृहीतार्थ संश्रित विहार है। जो साधु बारह प्रकार के तप को करने वाले हैं द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता हैं अथवा काल क्षेत्र आदि के अनुरूप आगम के ज्ञाता हैं या प्रायश्चित्त आदि ग्रन्थों के वेत्ता हैं। देह की शक्ति और हड्डियों के बल से अथवा भाव के सत्व से सहित हैं शरीरादि से भिन्नरूप एकत्व भावना में तत्पर हैं। वज्रवृषभ नाराच आदि तीन संहननों में से किसी उत्तम संहनन के धारक हैं

---

१ तवसुत्तसत्तएगत्तभावसंघडणधिदिसमग्गो य।
पविआ आगमबलिओ एयविहारी अणुण्णादो ॥२८॥—मूलाचार पृ० ८३।

२ गहिदत्थेयविहारो विदिओऽगिहिदत्थसंसिदो चेव।
एत्तो तदियविहारो णाणुण्णादो जिणवरेहिं ॥१४८॥—मूलाचार।

धृति—मनोबल से सहित हैं अर्थात क्षुधा आदि बाधाओं को सहने में समर्थ हैं। बहुत दिन के दीक्षित हैं तपस्या से वृद्ध हैं—अधिक तपस्वी हैं और आचार शास्त्रों के पारगत हैं ऐसे मुनि को एकलविहारी होने की जिनेन्द्र देव ने आज्ञा दी है।

गमनागमन[1] सोना उठना बैठना कुछ वस्तु ग्रहण करना, आहार लेना मलमूत्रादि विसर्जन करना बोलना, चालना आदि क्रियाओं में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाला ऐसा कोई भी मुनि मेरा शत्रु भी हो तो भी वह एकाकी विचरण न करे। स्वेच्छाचारी मुनि के एकाकी विहार से गुरु की निन्दा होती है श्रुताध्ययन का व्युच्छेद तीर्थ की मलिनता जड़ता मूर्खता आकुलता कुशीलता और पार्श्वस्थता आदि दोष आते हैं। एकल विहारी होने से कंटक ठूँठ आदि का उपद्रव, कुत्ते बैल आदि पशुओं से और म्लेच्छों के उपसर्ग विष हैजा आदि से भी अपना घात हो सकता है। ऋद्धि आदि गौरव से गर्व युक्त, हठग्राही कपटी आलसी लोभी और पापबुद्धियुक्त मुनि संघ में रहते हुए भी शिथिलाचारी होने से अन्य मुनियों के साथ नहीं रहना चाहता है। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का लोप अनवस्था—देखादेखी स्वच्छन्द विहारी की परंपरा बन जाना मिथ्यात्व की आराधना आत्मगुणों का नाश और संयम की विराधना इन पाँच निकाचित दोषों का प्रसंग आता है।'

अन्यत्र भी एकलविहारी का निषेध किया है—

कोई मुनि अपने गुरु के समीप समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके दूसरे आचार्यों के संघ में अध्ययन करने की इच्छा हो तो बार-बार पूछकर गुरु की आज्ञा लेकर अन्य किसी एक या दो अथवा बहुत से

---

[1] [illegible] मरणणिसण्णादाणभिक्खवोसरणे।
[illegible] मा मे सत्तू वि [illegible] ॥२९॥
[illegible] ॥३०॥
[illegible] ॥३१॥
[illegible] ॥३२॥
[illegible] ॥३३॥—[illegible]

मुनियों के साथ विहार करते हैं। (कदाचित् यात्रा धर्मप्रभावना आदि के निमित्त से भी आजकल इसी तरह कुछ मुनि मिलकर गुरु की आज्ञा लेकर विहार करते हैं।) अकेले मुनि विहार नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि जो मुनि बहुत दिन के दीक्षित हैं ज्ञान और संहनन से बलवान हैं तथा भावना से भी बलवान हैं ऐसे ही मुनि एकलविहारी हो सकते हैं। अन्य साधारण मुनियों के लिए एकाकी विहार की आज्ञा नहीं है। सो ही कहते हैं कि—जिस मुनि में ऊपर कथित ज्ञान संहनन और अंतःकरण के बल आदि गुण नहीं हैं और जो अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करने में तत्पर हैं ऐसा मेरा शत्रु भी कभी एकाकी विहार न करे¹।'

और यदि ऐसा मुनि भी एकाकी विचरण करते हैं तो क्या दोष आते हैं सो दिखाते हैं—शासनज्ञान की परंपरा का नाश अवस्था दोष अर्थात् एक की देखादेखी बहुत से साधु ऐसा करने लगेंगे तो व्यवस्था बिगड़ जावेगी। व्रतों का नाश आज्ञा भंग—जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन और तीर्थभ्रंश तथा गुरु की अपकीर्ति हो जाती है। इसके सिवाय अग्नि जल विष, अजीर्ण सर्प या क्रूर जनों के द्वारा अथवा आर्तध्यान रौद्र ध्यान आदि के द्वारा अपना विनाश हो जाता है। इत्यादि दोष एकाकी विहार में आ जाते हैं।

संघ कैसा होना चाहिए ?

जिस संघ में आचार्य—दीक्षा प्रायश्चित्त आदि दायक गुरु उपाध्याय—अध्यापक मुनि प्रवर्तक—सभी साधुओं की चर्या आदि में प्रवृत्ति करने वाले, स्थविर—बाल वृद्ध आदि मुनि को सवनानुकूल उपदेश देने वाले

---

१ इत्यव बहुना पक्ष्वा एकाकित्वानुज्ञा गरीयस्त्वन।
व्रतिनरेन वा द्वाभ्यां बहुभि सह नान्यथा ॥२६॥
ज्ञानसंहननस्वांतभावनाबलवन्मुन ।
चिरप्रव्रजितस्यैकविहारस्त मत श्रुत ॥२७॥
एतद्गुणगणापेत स्वच्छाचारस्त पुमान्।
यस्तस्यकाकिता मा भून्मम जातु रिपोरपि ॥२८॥
श्रुतसंतानविच्छित्तिरनवस्था यम व्रय ।
आज्ञाभंगश्च दुष्कीर्तिस्तीर्थस्य स्याद् गुरोरपि २९॥
अग्नितोयगराजीर्णसपक्रूरान्भि क्षय ।
इत्स्याप्यार्ताद्भिरेकविहारस्नुचितयत ॥ ॥–आचारसार प २७ २८।

गणधर—परम्परा का पालन करने वाले ऐसे पांच आधार जिस संघ में रहते है वही संघ रहने के लिए योग्य है।

जिस समय ये मुनि अपने संघ से निकलकर अन्य संघ में प्रवेश करते है उस समय उस संघ के सभी मुनि आगन्तुक अतिथि मुनि को देखकर उठकर खड़े होते हैं। आगे जाकर नमोऽस्तु प्रतिनमोऽस्तु करते हैं। उनका रत्नत्रय आदि कुशल पूछकर मार्ग की थकावट को दूर करने हेतु वैयावृत्ति आहार की व्यवस्था आदि सुविधा देते हैं। तीन दिन तक ये साधु आवश्यक क्रियाओं में आहार आदि क्रियाओं में परस्पर एक दूसरे की परीक्षा करते है। दूसरे या तीसरे शिष्यगण आगन्तुक मुनि की चर्या की निर्दोषता आदि के विषय में आचार्यदेव को जानकारी देते हैं। पुनः आगन्तुक मुनि का नाम कुल गुरु दीक्षा आदि सभी बातें गुरु स्वयं आगन्तुक से पूछते है। यदि वह मुनि संघ परम्परा से और अपने चारित्र में निर्दोष है तो उसे स्वीकार करते हैं। आगन्तुक मुनि भी तब अपने आने का कारण निवेदन कर गुरु के पास श्रुत अध्ययन प्रारम्भ कर देते है। ये मुनि इस प्रकार संघ में आचार्य आदि सब साधुओं के साथ ही प्रतिक्रमण आदि क्रियाएं करते है स्वच्छंद प्रवृत्ति नहीं करते हैं।

आर्यिकाओं की चर्या

यहां तक जो मूलगुण और समाचार का वर्णन किया है ये ही सब मूलगुण और समाचार विधि आर्यिकाओं के लिए भी है। विशेष यह है कि वृक्षमूलयोग आतापनयोग आदि का आर्यिकाओं के लिए निषेध है[1]।

अन्यत्र भी कहा है—

जिस प्रकार यह समाचार नीति मुनियों के लिए बतलाई है उसी प्रकार लज्जादि गुणों से विभूषित आर्यिकाओं को भी इन्हीं समस्त समाचार नीतियों का पालन करना चाहिए[2]।

आर्यिकायें वसतिका में परस्पर में एक दूसरे के अनुकूल रहती हैं। निर्विकारवस्त्र-वेष को धारण करती हुई दीक्षा के अनुरूप आचरण करती

---

१ एसो अज्जाणं पि य सामाचारो जहाक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं ॥१८७॥—मूलाचार पृ० १९१

२ लज्जाविनयवैराग्यसदाचारविभूषित।
आर्यासां समाचार संयतीषु रिवहि वह ॥८१॥—आचारसार पृ० ४२।

हैं। रोना बालक आदि को स्नान कराना भोजन बनाना वस्त्र सीना आदि गृहस्थोचित कार्य नहीं करती हैं। इनका स्थान साधुओं के निवास से दूर तथा गृहस्थों के स्थान से न अतिदूर न अतिपास ऐसा रहता है वहीं पर मलमूत्रादि विसर्जन हेतु एकांत प्रदेश रहता है। ऐसे स्थान में ये दो तीन या तीस चालीस आदि तक आर्यिकायें निवास करती हैं। ये गृहस्थों के घर आहार के अतिरिक्त अन्य समय नहीं जाती हैं।

कदाचित् सल्लेखना आदि विशेष कार्य यदि आ जावे तब गणिनी की आज्ञा से दो एक आर्यिकाओं के साथ जाती हैं। इनके पास दो साड़ी रहती हैं किन्तु तीसरा वस्त्र नहीं रख सकती हैं फिर भी ये लंगोटी मात्रधारी ऐसे ऐलक से भी पूज्य हैं चूंकि इनके उपचार से महाव्रत माने गये हैं। किन्तु एलक के अणुव्रत ही हैं।

यथा—ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोटी में ममत्व सहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य भी नहीं है। किन्तु आर्यिका एक साड़ी मात्र धारण करने पर भी ममत्व रहित होने से उपचार महाव्रती है[1]। एक साड़ी पहनना और बैठकर आहार करना इन दो चर्याओं में ही अंतर है।

इन आर्यिकाओं का नेतृत्व करने वाले आचार्य कैसे होते हैं?

शिष्यों के संग्रह और उन पर अनुग्रह करने में कुशल सूत्रार्थ में विशारद यशस्वी तेरह प्रकार की क्रिया और तेरह प्रकार के चारित्र में तत्पर ऐसे आचार्य होते हैं जिनके वचन सभी को ग्राह्य और हितकर होते हैं। गंभीर स्थिरपरिणामी, मितभाषी अल्पकुतूहली चिरकाल के दीक्षित पदार्थों के ज्ञान में कुशल ऐसे आचार्य ही आर्यिकाओं के गणधर होते हैं। इन गुणों से व्यतिरिक्त आचार्य यदि आर्यिकाओं का नेतृत्व करते हैं तो गणपोषण आत्मसंस्कार सल्लेखना और उत्तमार्थ ऐसे चार काल की विराधना करा देते हैं। अर्थात् संघ की अपकीर्ति संयम की हानि आदि दोष आ जाते हैं। ■

---

१ कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वात् नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटिकेऽप्यार्यिकार्हति ॥—सागारधर्मामृत पृ० ५१८।

२ अध्यधि—आहारार्थ साधुओं को आते देखकर पकते हुए धान्य आदि में और अधिक मिला देना।

३ पूतिदोष—प्रासुक तथा अप्रासुक को मिश्र कर देना।

४ मिश्रदोष—असंयतों के साथ साधु को आहार देना।

५ स्थापित—अपने घर में या अन्यत्र कहीं स्थापित किया हुआ भोजन देना।

६ बलिदोष—यक्ष देवता आदि के लिए बने हुए में से अवशिष्ट को देना।

७ प्रावर्तित—काल की वृद्धि या हानि करके आहार देना।

८ प्राविष्करण—आहारार्थ साधु के आने पर खिड़की आदि खोलना या बर्तन आदि माँजना।

९ क्रीत—उसी समय वस्तु खरीदकर लाकर देना।

१० प्रामृष्य—ऋण लेकर आहार बनाना।

११ परिवर्त—शालि आदि देकर बदले में अन्य धान्य लेकर आहार बनाना।

१२ अभिघट—पंक्तिबद्ध सात घर से अतिरिक्त अन्य स्थान से अन्नादि लाकर मुनि को देना।

१३ उद्भिन्न—भाजन के ढक्कन आदि को खोलकर अर्थात् मोहर चपड़ा आदि हटा कर वस्तु निकाल कर देना।

१४ मालारोहण—निसैनी से चढ़कर वस्तु लाकर देना।

१५ आछेद्य—राजा आदि के भय से आहार देना।

१६ अनीशार्थ—अप्रधान दातारों से दिया हुआ आहार लेना।

ये सोलह दोष श्रावक के आश्रित होते हैं। जान होने पर मुनि ऐसा आहार नहीं लेते हैं।

उत्पादन के १६ भेद

१ धात्री दोष—धाय के समान बालकों को भूषित करना, खिलाना, पिलाना आदि करना जिससे दातार प्रसन्न होकर अच्छा आहार देवें, यह मुनि के लिए धात्री दोष है।

२ दूत दोष—दूत के समान किसी का समाचार अन्य ग्रामादि में पहुँचा कर आहार लेना।

३ निमित्त दोष—स्वर व्यंजन आदि निमित्त ज्ञान से श्रावकों को हानि लाभ बताकर खुश करके आहार लेना।

४ पिहित—प्रासुक या अप्रासुक ऐसे बडे से ढक्कन आदि का हटा कर दिया हुआ आहार लेना।

५ सव्यवहरण—जल्दी से वस्त्र, पात्रादि खींच कर बिना विचारे या बिना सावधानी के दिया हुआ आहार लेना।

६ दायक—आहार के योग्य मद्यपायी नपुसक पिशाचग्रस्त अथवा सूतक-पातक आदि से सहित दातारो से आहार लेना।

७ उन्मिश्र—अप्रासुक वस्तु सम्मिश्रित आहार लेना।

८ अपरिणत—अग्न्यादि से अपरिपक्व आहार पान आदि लेना।

९ लिप्त—पानी या गीले गेरु आदि से लिप्त ऐसे हाथो से दिया हुआ आहार लेना।

१० छोटित—हाथ की अजुलि से वहुत कुछ नीचे गिराते हुए आहार लेना।

ये दश दोष मुनियो के भोजन से सबध रखते हैं। मुनि दोषो से अपने को सदव बचाते रहते हैं।

१ सयोजना दोष—आहारादि के पदार्थों का मिश्रण कर देना ठढे जल आदि मे उष्ण भात आदि मिला देना अन्य भी प्रकृति विरुद्ध वस्तु का मिश्रण करना सयोजना दोष है।

२ अप्रमाण दोष—उदर के दो भाग रोटी आदि से पूर्ण करना होता है एक भाग रस दूध पानी आदि से भरना होता है और एक भाग खाली रखना होता है। यह आहार का प्रमाण है इसका अतिक्रमण कर के आहार लेना अप्रमाण दोष है।

३ अगार दोष—जिह्वा इद्रिय की लपटता से भोजन ग्रहण करना।

४ धूम दोष—भोज्य वस्तु आदि की मन मे निंदा करते हुए आहार ग्रहण करना।

इस प्रकार से उद्गम के १६ + उत्पादन के १६ + एषणा के १० + और संयोजना आदि ४ = सब मिलाकर ४६ दोष होते हैं।

जो पहले आठ दोषो में १ कारण दोष था वह इनसे अलग है। अब उसको बतलाते हैं—

होने पर भी वह साधु शुद्ध ही कहा जाता है। शुद्ध आहार को ढूंढने से अध कर्म से उत्पन्न हुआ अन्न भी उस साधु के कर्मबंध करने वाला नहीं है[1]।

आहार का काल

सूर्योदय से तीन घडी बाद और सूर्यास्त होने के तीन घडी पहले तक आहार[2] का समय है। आहार काल में भी आहार का समय उत्कृष्ट एक मुहूर्त (४८ मिनट) मध्यम दो मुहूर्त और जघन्य तीन मुहूर्त प्रमाण तक है[3]। मध्याह्न काल में दो घडी बाकी रहने पर प्रयत्न पूर्वक स्वाध्याय समाप्त कर, देव वंदना करके वे मुनि भिक्षा का समय जानकर पिछी कमंडलु लेकर शरीर की स्थिति हेतु आहारार्थ अपने आश्रम से निकलते हैं। मार्ग में संसार शरीर भोगो से विरक्ति का चिंतन करते हुए ईर्यापथ शुद्धि से धीरे धीरे गमन करते हैं। वे किसी से बात न करते हुए मौन पूर्वक चलते हैं। श्रावक द्वारा पडगाहन हो जाने पर वे खडे हो जाते हैं तब श्रावक उन्हें अपने घर ले आकर नवधा भक्ति करता है। अनंतर मुनि अपने पैरों में चार अंगुल का अंतर रखकर खडे होकर अपने दोनो करपात्रो को छिद्र रहित बना लेते हैं। अनंतर सिद्ध भक्ति करके क्षुधा वेदना को दूर करने के लिये वे प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं।

आहार में पांच प्रकार की वृत्ति

'गोचार अक्षम्रक्षण उदराग्निप्रशमन, भ्रमणाहार, श्वभ्रपूरण(?) भ्रामरीवृत्ति और श्वभ्रपूरण, इन पांच प्रकार की वृत्ति रखकर मुनि आहार ग्रहण करते हैं[4]।

---

१ मृगयमाणो य शुद्धाहारमतन्द्रित ।
शुद्ध एव स योगार्थी सत्यध कर्मणि क्वचित् ॥३५॥
—मूलाचार प्रदीप पृ० ६६।

२ उग्गमणत्थमण काले णालीतियवज्जियम्हिमज्झम्हि ।
एकम्हि दुअतिए वा मुहुत्तकालेयभत्त तु ॥३५॥
—मूला०, पृ० ४५।

३ यह काल की मर्यादा सिद्ध लेकर ग्रन्थ

४ मूलाचार प्रदीप, पृ०
३

जैसे गाय को घास देने वाली स्त्री चाहे सुन्दर हो या असुन्दर वह गाय स्त्री की सुन्दरता अथवा वस्त्राभूषणों को न देखकर मात्र अपनी घास पर दृष्टि रखती है। वैसे ही मुनि भी अन्न रस, स्वादिष्ट व्यंजन आदि की इच्छा न रखते हुए दाता के द्वारा प्रदत्त प्रासुक आहार ग्रहण कर लेते हैं यह गौ के आचरणवत गोचर या गोचरी वृत्ति कहलाती है।

जैसे कोई वैश्य रत्नों से भरी गाडी के पहियों की धुरी में थोडी सी चिकनाई (औंगन) लगाकर अपने इष्ट देश में ले जाता है वैसे ही मुनि राज भी गुणरत्नों से भरी हुई शरीररूपी गाडी को औंगन के समान थोडा सा आहार देकर आत्मा को मोक्षनगर तक पहुँचा देते हैं। इसको अक्षम्रक्षणवृत्ति कहते हैं।

जैसे कोई वैश्य रत्नादि से भरे भाण्डागार में अग्नि के लग जाने पर शीघ्र ही किसी भी जल से उसे बुझा देता है। वैसे ही साधु भी सम्यग्ज्ञान आदि रत्नों की रक्षा हेतु उदर में बढी हुई क्षुधा रूपी अग्नि के प्रशमन हेतु सरस या नीरस कैसा भी आहार ग्रहण कर लेते हैं। इसे उदराग्निप्रशमन वृत्ति कहते है।

जैसे कोई गृहस्थ अपने घर के गड्ढे को किसी भी मिट्टी से भर देता है वैसे ही साधु अपने उदर के गर्त को जैसा कुछ अन्न मिल गया उससे भर देते हैं मिष्ठ भोजन की इच्छा नही रखते हैं। यह श्वभ्रपूरण वृत्ति है।

जैसे भ्रमर अपनी नासिका द्वारा कमल गंध को ग्रहण करते समय कमल को किंचिन्मात्र भी बाधा नही पहुँचाता है। वैसे ही मुनिराज भी दाता के द्वारा दिये गये आहार को ग्रहण करते समय उन्हें किंचित् भी पीडित नहीं करते हैं। इसको भ्रामरीवृत्ति कहते हैं।

इस प्रकार से आहार ग्रहण करते हुए यदि बत्तीस अंतरायों में से कोई भी अंतराय आ जाय तो वे आहार छोड देते हैं। जो दाता और पात्र दोनों के मध्य में विघ्न आता है वह अंतराय कहलाता है।

बत्तीस अंतराय

१ काक—आहार को जाते समय या आहार लेते समय यदि कौवा आदि बीट कर देवें तो काक नाम का अंतराय है।

२ अमेध्य—अपवित्र विष्ठा आदि से पैर लिप्त हो जावे।

३ छर्दि—वमन हो जाय।

४ रोधन—आहार के जाते समय कोई रोक देवे।

५ रक्तस्राव—अपने शरीर से या अन्य के शरीर से चार अंगुल पर्यंत रुधिर बहता हुआ दीखे।

६ अश्रुपात—दुःख से अपने या पर के अश्रु गिरने लगे।

७ जान्वध परामर्श—यदि मुनि जंघा के नीचे के भाग का स्पर्श कर लें।

८ जानूपरिव्यतिक्रम—यदि मुनि जंघा के ऊपर का व्यतिक्रम कर लें अर्थात् जंघा से ऊँची सीढ़ी पर—इतनी ऊँची एक ही डंडा या सीढ़ी पर चढ़ें तो जानूपरिव्यतिक्रम अंतराय है।

९ नाभ्योनिगमन—यदि नाभि से नीचे शिर करके आहारार्थ जाना पड़े।

१० प्रत्याख्यात सेवन—जिस वस्तु का देव या गुरु के पास त्याग किया है वह खाने में आ जाय।

११ जन्तुवध—कोई जीव अपने सामने किसी जीव का वध कर देवे।

१२ काकादि पिंडहरण—कौवा आदि हाथ से ग्रास का अपहरण कर लें।

१३ ग्रासपतन—आहार करते समय मुनि के हाथ से ग्रास प्रमाण आहार गिर जावे।

१४ पाणौ जन्तुवध—आहार करते समय कोई मच्छर मक्खी आदि जन्तु हाथ में मर जावे।

१५ मांसादि दर्शन—मांस मद्य या मरे हुए का कलेवर देख लेने से अन्तराय है।

१६ पादांतर जीव—यदि आहार लेते समय पैर के नीचे से पंचेन्द्रिय जीव चूहा आदि निकल जाय।

१७ देवाद्युपसर्ग—आहार लेते समय देव मनुष्य या तिर्यंच आदि उपसर्ग कर देवें।

१८ भाजनसंपात—दाता के हाथ से कोई बरतन गिर जाय।

१९ उच्चार—यदि आहार के समय मल विसर्जित हो जावे।

२० प्रस्रवण—यदि आहार के समय मूत्र विसर्जित हो जावे।

२१ अभोज्य गृह प्रवेश—यदि आहार के समय चाडालादि के घर में प्रवेश हो जाव।

२२ पतन—आहार करते समय मूर्छा आदि गिर जाने पर।

२३ उपवेशन—आहार करते समय बैठ जाने पर।

२४ सदंश—कुत्ते बिल्ली आदि के काट लेने पर।

२५ भूमिस्पर्श—सिद्ध भक्ति के अनन्तर हाथ से भूमि का स्पर्श हो जाने पर।

२६ निष्ठीवन—आहार करते समय कफ, थूक आदि निकलने पर।

२७ वस्तुग्रहण—आहार करते समय हाथ से कुछ वस्तु उठा लेने पर।

२८ उदर कृमिनिर्गमन—आहार करते समय उदर से कृमि आदि निकलने पर।

२९ अदत्तग्रहण—नहीं दी हुई किंचित् वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

३० प्रहार—अपने ऊपर या किसी के ऊपर शत्रु द्वारा शस्त्रादि का प्रहार होने पर।

३१ ग्रामदाह—ग्राम आदि म उसी समय आग लग जाने पर।

३२ पादेन किंचिद्ग्रहण—पाद से किंचित् भी वस्तु ग्रहण कर लेने पर।

इन उपर्युक्त कारणों से आहार छोड देने का नाम ही अन्तराय है। इसी प्रकार से इन बत्तीस के अतिरिक्त चाडालादि स्पर्श कलह इष्ट मरण साधर्मिक संन्यासपतन राज्य में किसी प्रधान का मरण आदि प्रसगों से भी अन्तराय होता है। अन्तराय के अनंतर साधु आहार छोड कर मुख शुद्धि कर आ जाते हैं। मन म वे किंचित् भी खेद या विषाद को न करते हुए 'लाभादलाभो वर' लाभ की अपेक्षा अलाभ में अधिक कर्मनिर्जरा होती है ऐसा चिंतन करते हुए, वैराग्य भावना को वृद्धिगत करते रहते हैं।

४ आवश्यक किया

जो पापादि कियाओ के वश मे नहा है वह अवश है अथवा जो इन्द्रिय कपाय नोकपाय और रागद्वपादि क आधीन नहा है वह साधु अवश है उस अवश का जो काय अनुष्ठान आचरण है। वह आवश्यक कहलाता है।

सामायिक

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सयम और तपो से जो जीव का ऐक्य होना है वह समय है। उसी को सामायिक कहते हैं अर्थात् इन कियाओ से परिणत आत्मा ही सामायिक है। इसके नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा ६ भेद हो जात हैं। वस्तु के शुभ अशुभ नाम सुन कर रागद्वप नही करना नामसामायिक है। शुभाकार युक्त और अशुभाकार युक्त प्रतिमाआ मे रागद्वप नही करना सामायिक है। सोना चांदी या मिट्टी आदि म रागद्वप नही करना द्रव्यसामायिक है। रम्य सुन्दर क्षेत्रों मे और असुन्दर अप्रिय क्षेत्रो में समताभाव रखना क्षेत्र सामायिक है। ग्रीष्म शीतादि ऋतुओ और भी अनुकूल प्रतिकूल समया मे रागद्वेष नहीं करना काल सामायिक है तथा सम्पूण इष्ट अनिष्ट विपया में रागद्वप का त्याग करक समताभाव धारण करना ही भाव सामायिक है क्योकि सवसावद्ययोग से निवृत्त होकर कर्मास्रव के कारणभूत पापयोग से दूर होना ही सामायिक का लक्षण है। अजितनाथ से पारवनाथ तक बाईस तीर्थंकरो ने शिष्यो को सामायिक सयम का उपदेश दिया था। भगवान् वृपभदेव और महावीर प्रभु ने छेदोपस्थापना सयम का उपदेश दिया है। कथन करने म पृथक-पृथक भावित करने म और समझने में सुगमना हो इसलिए पांच महाव्रतो का वणन किया है। आदिनाथ के तीर्थ में शिष्यो को समझाना कठिन था क्याकि वे अधिक सरल स्वभावी—जड थे और महावीर जिनके तीथ मे शिष्यो को व्रत का पालन कराना कठिन रहा है क्योकि ये अधिक वक्र स्वभावी हैं। दोनों तीर्थों के शिष्य योग्य और अयोग्य को नही जानते थे यही कारण है कि उनको सवसावद्ययोगाद् विरतोस्मि मैं सभी सावद्ययोग से विरक्त हू इतने मात्र से सामायिक संयम को स्वीकार मोक्षमाग म स्थित होना कठिन था इसी हेतु से वृपभ देव और वीर प्रभु ने व्रतों के भेदरूप छेदोपस्थापना सयम का उपदेश

के विषय में स्तुति करना कालस्तव है और जिनदेव के केवलज्ञान आदि गुणों का स्मरण करना भावस्तव है।'

'इन अर्हंत आदि के तरफ अभिमुख होने से भक्ति से संपूर्ण अभीप्सित सिद्ध हो जाते हैं इसलिए यह भक्तिरागपूर्वक होता है यह निदान नहीं है। दोनों पग में चार अंगुल का अंतर रखकर प्रतिलेखन करके अंजुली जोड़कर अविक्षिप्त मन हुए साधु चतुर्विंशतिस्तव को करते हैं।'[1]

वन्दना—एक तीर्थंकर सिद्ध आचार्यादि को वन्दना करना विधिवत् भक्तिपाठ पूर्वक कृतिकर्म करना वन्दना आवश्यक है। एक तीर्थंकर या सिद्ध आदि का नाम लेना नाम वन्दना है।' तीर्थंकर सिद्ध आचार्यादि के प्रतिबिम्बों की स्तुति करना स्थापना वन्दना है[2]। एक तीर्थंकर सिद्ध या आचार्यादि के शरीर की स्तुति करना द्रव्य वन्दना है। एक तीर्थंकर सिद्ध या आचार्यादि ने जिस स्थान में निवास किया है उस क्षेत्र की स्तुति करना क्षेत्र वन्दना है। एक तीर्थंकर तथा सिद्ध आचार्यादि जिस काल में हुए हैं उस काल की स्तुति करना काल वन्दना है। एक तीर्थंकर सिद्धाचार्यादि के गुणों की स्तुति करना भाव वन्दना है।

कृतिकर्म चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये सब वन्दना के ही नामान्तर हैं।

जिन अक्षर समूह से परिणामों से या क्रियाओं से आठ प्रकार का कर्म काटा जाता है छेदा जाता है वह कृतिकर्म है अर्थात् पापनाश के उपाय को कृतिकर्म कहते हैं। जिससे तीर्थंकरत्व आदि पुण्य कर्म का संचय होता है उसको चितिकर्म कहते हैं। जिसके द्वारा अर्हंत आदि पूजे जाते हैं ऐसे बहुवचन से उच्चारण कर पुष्पमाला चंदन आदि जो अर्पण किये जाते हैं वह पूजाकर्म है जिससे कर्म दूर किया जाता है अर्थात् जिसके द्वारा कर्मों का संक्रमण उदय उदीरणा आदि रूप परिण

---

१ तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए।
तो भत्तिरागपुव्वं वुच्चइ एदं ण हु णिदाणं ॥८४॥
चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो।
अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदि य चउवीसत्थयं भिक्खू ॥८ ॥

—मूलाचार पृ० २९४।

२ सिद्धाचार्यादिप्रतिबिम्बानां च स्तवनं स्थापनावन्दनानिर्युक्तिः।

—मूला० टीका पृ० ४३९।

मन करा लिया जाता है ऐसे कार्य को निरावर्म कहते हैं उसका शुश्रूषा है।'

अहोरात्रि के कृतिकर्म

चार प्रतिक्रमण के और तीन स्वाध्याय के ऐसे पूर्वाह्न के सात कृतिकर्म और अपराह्न के सात कृतिकर्म ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं।[2] अथवा पश्चिमरात्रि में[3] प्रतिक्रमण के चार स्वाध्याय के तीन और वंदना के दो सूर्य उदय होने पर स्वाध्याय के तीन और मध्याह्न वन्दना के दो इस प्रकार पूर्वाह्न क्रियाकर्म के ये चौदह हुए उसी प्रकार अपराह्न काल में स्वाध्याय के तीन प्रतिक्रमण के चार, वंदना के दो रात्रियोग ग्रहणविसर्जन में योगभक्ति के दो और पूर्व रात्रि में स्वाध्याय के तीन इस प्रकार अपराह्निक क्रिया में चौदह कृतिकर्म होते हैं। अहोरात्र के कुल मिलाकर अट्ठाईस कृतिकर्म होते हैं[4]। यहाँ पर गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय का ग्रहण उपलक्षणमात्र है इसलिये सभी क्रियायें इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाती हैं[5]।

अन्यत्र भी कहा है— चार बार के स्वाध्याय के १२, त्रिकाल वन्दना के ६ दो बार के प्रतिक्रमण के ८ और रात्रियोग ग्रहण विसर्जन में योग

---

१ कृत्यते छिद्यते अष्टविध कर्म येन अक्षरकदम्बकेन परिणामेन क्रियया वा तत् कृतिकर्म पापविनाशनोपायः। चीयते समेकीक्रियते संचीयते पुण्य कर्म तीर्थकरत्वादि येन तच्चितिकर्म पुण्यसंचयकारणं। पूज्यते अर्हदादयो येन तत्पूजाकर्म बहुवचनोच्चारणस्रक् चंदनादिकं। विनीयते निराक्रियते संक्रमो-दयोदीरणादिभावेन प्राप्यते येन कर्माणि तद्विनयकर्म शुश्रूषणं।

—मूलाचार टीका पृ० ४४०।

२ चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥१०३॥

—मूलाचार पृ ३१०।

३ पश्चिमरात्रौ प्रतिक्रमणे'—मूला० टी०, पृ० ४५१।

४ मूलाचार टीका पृ ४५५।

५ प्रतिक्रमण स्वाध्याययोरुपलक्षणत्वादिति अन्या अपि क्रियाकर्माण्यत्रैवान्तर्भवन्ति।

—मूला० टी०, पृ० ४५५।

भक्ति के २, ऐसे २८ कायोत्सर्ग साधु के अहोरात्र विषयक होते हैं। इनका स्पष्टीकरण यह है कि—

त्रिकाल देव वन्दना मे चैत्य भक्ति और पचगुरु भक्ति सम्बन्धी दो दो २×३=६, दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध प्रतिक्रमण, निष्ठिनकरणवीर और चतुर्विंशति-तीर्थकर इन चार भक्ति सम्बन्धी चार-चार ४×२=८, पूर्वाह्न अपराह्न पूर्व रात्रिक और अपर रात्रिक इन चार कालिक स्वाध्याय म—स्वाध्याय के प्रारम्भ मे श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति एव समाप्ति में श्रुत भक्ति ऐसे तीन-तीन भक्ति सम्बन्धी ४×३=१२, रात्रियोग प्रतिष्ठापन म योग भक्ति सम्बन्धी एक और निष्ठापन में एक ऐसे २, इस तरह सब मिलकर ६+८+१२+२=२८ कायोत्सर्ग किये जाते हैं।

कृतिकर्म का लक्षण

'सामायिक स्तवपूर्वक कायोत्सर्ग करके चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त जो विधि है उसे कृतिकर्म कहते हैं[2]। यथाजात मुद्राधारी साधु मनवचन काय की शुद्धि करके दो प्रणाम बारह आवर्त और चार शिरोनतिपूर्वक कृतिकर्म का प्रयोग करे[3]। अर्थात् किसी भी क्रिया के प्रयोग मे पहले प्रतिज्ञा करके भूमि स्पर्शरूप पचाङ्ग नमस्कार किया जाता है जैसे— अथ पौर्वाह्लिकस्वाध्यायप्रारभक्रियाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थ भावपूजावदनास्तवसमेत श्रुतभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यह ऐसी प्रतिज्ञा करके पचाग नमस्कार किया जाता है पुन णमो 'अरिहताण से लकर तावकाल पावकम्म दुच्चरिय वोस्सरामि' पाठ बोला जाता है इसे सामायिक स्तव कहते हैं। इसमें णमो अरिहताण पाठ प्रारम्भ करते समय तीन आवर्त करके एक शिरोनति की जाती है पुन पाठ पूरा करके

---

१ स्वाध्याये द्वादशेष्टा षडवन्दनेष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचरा ॥७५॥

—अनगार धर्मामृत पृ ५९७।

२ सामायिकस्तवपूर्वककायोत्सर्गश्चतुर्विंशतिस्तवपर्यंत कृतिकर्मेत्युच्यते।

—मूला० टी० पृ० ४५४।

३ दोणदं तु जधाजाद बारसावत्तमेव य।
चदुसिर तिसुद्धि च किदियम्म पउजदे ॥१२८॥

—मूलाचार पृ० ३११।

मन करा दिया जाता है ऐसे कार्य को विनयकर्म कहते हैं, उसका ही शुश्रूषा है[1]।'

अहोरात्रि के कृतिकर्म

'चार प्रतिक्रमण में और तीन स्वाध्याय में ऐसे पूर्वाह्न के सात कृतिकर्म और अपराह्न में सात कृतिकर्म ऐसे चौदह कृतिकर्म होते हैं[2]।" अथवा पश्चिमरात्रि में[3] प्रतिक्रमण के चार स्वाध्याय के तीन और वंदना के दो सूर्य उदय होने पर स्वाध्याय के तीन और मध्याह्न वंदना के दो इस प्रकार पूर्वाह्न क्रियाकर्म के ये चौदह हुए, उसी प्रकार अपराह्न काल में स्वाध्याय के तीन प्रतिक्रमण के चार वंदना के दो, रात्रियोग ग्रहणविसर्जन में योगभक्ति के दो और पूर्व रात्रि में स्वाध्याय के तीन इस प्रकार अपराह्निक क्रिया में चौदह कृतिकर्म होते हैं। अहोरात्र के कुल मिलाकर अट्ठाईस कृतिकर्म होते हैं[4]।' यहाँ पर गाथा में प्रतिक्रमण और स्वाध्याय का ग्रहण उपलक्षणमात्र है इसलिये सभी क्रियायें इन्हीं में अन्तर्गत हो जाती हैं[5]।

अन्यत्र भी कहा है— चार चार के स्वाध्याय के १२, त्रिकाल वंदना के ६ दो बार के प्रतिक्रमण के ८ और रात्रियोग ग्रहण विसर्जन में य

---

१ [illegible] परिणामन क्रिया [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] शुश्रूषणं ।
—मूलाचार टीका पृ० ४८०।

२ चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए ।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति ॥६०३॥
—मूलाचार पृ० ४८०।

३ [illegible] —मूला० टी० पृ० ४५१।

४ [illegible] गाथा पृ० ८०५।

५ [illegible] क्रियाकर्माणि [illegible] ।
—मूला० टी० पृ० ८०५।

भक्ति के २, ऐसे २८ कायोत्सग साधु के अहोरात्र विषयक होते हैं।[1]" इनका स्पष्टीकरण यह है कि—

त्रिकाल देव वदना में चैत्य भक्ति और पचगुरु भक्ति सम्बन्धी दो दो २×३=६, दैवसिक रात्रिक प्रतिक्रमण म सिद्ध प्रतिक्रमण, निष्ठितकरणवीर और चतुर्विंशति-तीर्थकर इन चार भक्ति सम्बन्धी चार-चार ४×२=८, पूर्वाह्न अपराह्न पूर्व रात्रिक और अपर रात्रिक इन चार कालिक स्वाध्याय में—स्वाध्याय के प्रारम्भ में श्रुतभक्ति, आचार्य भक्ति एव समाप्ति में श्रुत भक्ति ऐसे तीन-तीन भक्ति सम्बन्धी ४×३=१२ रात्रियोग प्रतिष्ठापन म योग भक्ति सम्बन्धी एक और निष्ठापन में एक ऐसे २, इस तरह सब मिलकर ६+८+१२+२=२८ कायोत्सग किये जाते हैं।

कृतिकम का लक्षण

'सामायिक स्तवपूवक कायोत्सग करके चतुर्विंशतिस्तव पयन्त जो विधि है उसे कृतिकम कहते हैं[2]। 'यथाजात मुद्राधारी साधु मनवचन काय की शुद्धि करके दो प्रणाम बारह आवत और चार शिरोनतिपूवक कृतिकर्म का प्रयोग करे[3]। अर्थात किसी भी क्रिया के प्रयोग में पहले प्रतिज्ञा करके भूमि स्पशरूप पचाङ्ग नमस्कार किया जाता है जैसे—अथ पौर्वाह्निकस्वाध्यायप्रारभक्रियाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावदनास्तवसमेत श्रुतभक्तिकायोत्सग करोम्यह ऐसी प्रतिज्ञा करके पंचांग नमस्कार किया जाता है पुन णमो "अरिहताण से लेकर तावकाल पावकम्म दुच्चरिय वोसरामि' पाठ बोला जाता है इसे सामायिक स्तव कहते हैं। इसमें 'णमो अरिहंताण पाठ प्रारभ करते समय तीन आवत करके एक शिरोनति की जाती है पुन पाठ पूरा करके

---

१ स्वाध्याये द्वादशेष्टा षडवदनेऽष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचरा ॥७५॥

—अनगार धर्मामृत पृ० ५९७।

२ सामायिकस्तवपूवककायोत्सगश्चतुर्विंशतिस्तवपयत कृतिकर्मेत्युच्यते।

—मूला० टी० पृ ४५४।

३ दोणद तु जधाजाद बारसावत्तमेव य।
चदुस्सिर तिसुद्धि च किदियम्मं पउज्जे ॥१२८॥

—मूलाचार, पृ १११।

तीन आवर्त तथा शिरोनति की जाती है। फिर कायोत्सर्ग करके पंचांग प्रणाम किया जाता है पुन थोस्सामि इत्यादि चतुर्विंशति स्तव के प्रारम्भ म तीन आवर्त एक शिरोनति करके पाठ पूरा होने पर तीन आवर्त और शिरोनति होती है। इस प्रकार प्रतिज्ञा के अनन्तर प्रणाम और कायोत्सर्ग के अनंतर प्रणाम ऐसे दो प्रणाम हुए। सामायिक स्तव के आदि अन्त में और थोस्सामि के आदि अन्त मे ऐसे तीन-तीन आवर्त चार बार करने से बारह आवर्त हुए तथा प्रत्येक मे एक एक शिरोनति करने से चार शिरोनति हो गई।

इस कृतिकर्म—विधिवत् कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष माने गये हैं। उनसे रहित होना चाहिए।

कृतिकर्म कब करे ?

आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इनको कृतिकर्म पूर्वक नमस्कार करते हैं। अविरती श्रावक माता पिता, असंयत गुरु राजा पाखंडी साधु देशव्रती अथवा नाग यक्ष आदि देवों की वंदना महाव्रती साधु नही करते हैं। तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकार के चारित्र शिथिल मुनि की भी वंदना नही करते हैं। किंतु वे साधु रत्नत्रय से युक्त, अपने दीक्षा मे एकरात्रि भी बडे ऐसे मुनियों की भी वंदना करते हैं। विक्षिप्त चित्त हुए अथवा पीठ करके बैठे हुए, आहार या नीहार करते हुए गुरुओं को मुनि वंदना नही करते हैं। आसन में स्थित स्वस्थचित्त ऐसे गुरु की वंदना करते हैं। आलोचना के समय सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं के समय प्रश्न करने के पूर्व मे पूजनकाल मे स्वाध्याय के समय क्रोधादि अपराध काल में आचार्यादि की वंदना के समय इतने स्थानों में गुरु की वंदना की जाती है। जब मुनि वंदना करते हैं तब अन्य आचार्यादि साधु भी बडे प्रेम से उन्हें पिच्छिका लेकर प्रतिवंदना करते हैं। वंदना करते समय गुरु से अनुज्ञा लेकर—हे भगवान्! मैं वंदना करता हूँ ऐसी प्रार्थना करके पुन स्वीकृति प्राप्त कर विधिवत् वन्दना करते हैं[1]। सभी क्रियाओं के आरंभ में मार्गादि मे देखने पर सर्वत्र साधु-साधुओं में वंदना प्रतिवंदना करते हैं[2]।

---

१ भगवन्! वन्देहं इति विज्ञापनया वन्दस्वेति अनुज्ञां कारयित्वा।
—अनगार ध० पृ० ५७६।

२ सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दना प्रतिवंदने।
गुर्वादिष्वस्य साधूनां तथा मार्गादिदर्शने ॥५५॥ —अनगार ध० पृ० ५७७।

'देव वदना में भी पूर्वोक्त विधि से कृतिकम करके जयतु भगवान्' इत्यादि चैत्य भक्ति का पाठ करते हुए साधु देववदना विधि करते हैं[1]।

देववदना में योग्य काल योग्य आसन आदि को भी समझना चाहिए।

'साधु समाधि के लिए सहकारी कारणभूत ऐसे योग्य काल योग्य आसन योग्य मुद्रा आवत और शिरोनतिरूप निर्दोष बत्तीस दोष रहित कृतिकम को विनय पूवक करते हैं[2]। देववदना क लिए इन सभी को कहते हैं—

योग्यकाल—पिछली रात्रि की तीन घडी और दिन के आदि की तीन घडी ऐसे छह घडी (२ घटे २४ मिनट) काल पूर्वाह्णवदना का है। मध्याह्न से पहले की तीन घडी और पीछे की तीन घडी ऐसा छह घडी काल मध्याह्न वदना का है। दिन क अन्त की तीन घडी और रात्रि के आदि की तीन घडी ऐसा छह घडी काल अपराह्ण वदना का है। यह उत्कृष्ट काल है। एसे ही चार चार घडी का काल मध्यम काल है तथा दो-दो घडी का काल जघन्य काल है। इस प्रकार तीनो सध्याओ मे देव वन्दना क लिए योग्यकाल है।

योग्य आसन—वन्दना करने के लिए साधु जहा बैठते हैं वह प्रदेश पाटा सिंहासन या पद्मासन आदि योग्य आसन हैं। शुद्ध एकात प्रासुक अप्रशस्त लोक और समूच्छन आदि जन्तुओ स रहित क्लेश क कारणभूत परिषह उपसग आदि से रहित होवे तथा तीथकर आदि क निर्वाण कल्याण आदि कल्याणको से पवित्र प्रदेश हो उत्तम प्रदेश माना गया है। जिस पाटा चटाई या तृण आदि पर बैठ कर वदना करनी है वह आसन छिद्र रहित, घुण, खटमल आदि से रहित कालादि से रहित निश्चल और सुखकर स्पर्श वाला होवे। उसपर साधु पद्मासन पर्यकासन या वीरासन से बैठकर सामायिक करते हैं। दोनो पैर जघाओं से मिल जाय उसको पद्मासन कहते हैं। एक जघा क ऊपर दूसरी जघा के रखने स जो

---

१ सामायिक णमो अरहताणमिति प्रभत्यथ स्तवन।
थोसामीत्यादि जयति भगवानित्यादिवन्दना युञ्ज्यात ॥५६॥
—अनगार ध प ५७७।

२ योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति।
विनयेन यथाजात कृतिकर्मामल भजेत ॥७८॥—अनगार ध प० ५९९।

२४ अदृष्ट—आचार्यादि न देख सकें। ऐसे स्थान पर जाकर अथवा भूमि, शरीरादि का पिच्छी से परिमार्जन न कर वंदना में एकाग्रता न रखते हुए वंदना करना या आचार्यादि के पीछे जाकर वन्दना करना।

२५ संघकरमोचन—यदि मैं संघ को वंदनारूपी कर भाग नहीं दूँगा तो संघ मेरे ऊपर रुष्ट होगा ऐसे भाव से वंदना करना।

२६ आलब्ध—उपकरण आदि प्राप्त करके वंदना करना।

२७ अनालब्ध—उपकरण आदि की आशा से वंदना करना।

२८ हीन—ग्रन्थ अर्थ और काल के प्रमाण से रहित वंदना करना।

२९ उत्तर चूलिका—वंदना को थोड़े काल में पूर्ण कर उसकी चूलिका रूप आलोचनादि पाठ को अधिक समय तक करना।

३० मूकदोष—गूंगे के समान वंदना के पाठ को मुख के भीतर ही बोलना अथवा वंदना करते समय हुंकार अंगुली आदि से इशारा करना।

३१ दर्दुर—वंदना के पाठ को इतनी जोर से बोलते हुए महाकल कल ध्वनि करना कि जिससे दूसरों की ध्वनि दब जाय।

३२ चुरलित—एक ही स्थान में खड़े होकर हस्ताञ्जलि को घुमाकर सबकी वंदना करना अथवा पंचम आदि स्वर से गा-गा कर वंदना करना।

इस प्रकार वंदना के ३२ दोष हैं। इन दोषों से रहित वंदना ही शुद्ध वंदना है जो कि विपुल निर्जरा का कारण है। इन ३२ दोषों में से किसी एक दोष को करता हुआ भी साधु कृतिकर्म करते हुए भी कृति कर्म से निर्जरा को करने वाला नहीं होता है। एक हाथ के अन्तराल से अपने शरीरादि के स्पर्श से देव का स्पर्श या गुरु को बाधा न करते हुए अपने अंगादि का पिच्छिका से प्रमार्जन करके साधु वंदना की प्रार्थना करके वंदना करता है अर्थात् मैं वंदना करता हूँ ऐसी विज्ञापना करके यदि गुरु की वंदना करना है तो उनकी स्वीकृति लेकर वंदना करता है।"

---

८१ किदियम्मं पि करंतो ण होदि किदियम्म णिज्जराभागी।
बत्तीसाणण्णदरं साहू ठाणं विराहंतो ॥११५॥
हत्थंतरेण बाधे संफासपमज्जणं पउंजंतो।
जाएंतो वंदणयं इच्छाकारं कुणदि भिक्खू ॥११६॥
—मूलाचार पृ ११५।

द्विक गमन प्रतिक्रमण ऐर्यापथिक में, अतिचार प्रतिक्रमण रात्रिक प्रतिक्रमण में और लोचप्रतिक्रमण तथा गोचार प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

भगवान् आदिनाथ और महावीर प्रभु ने अपराध हो चाहे न हो शिष्यों को यथासमय प्रतिक्रमण करने का उपदेश दिया है। किन्तु अजित नाथ आदि बाईस तीर्थंकरों ने अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करने को कहा है। प्रथम और अंतिम जिनेश्वर ने एक दोष होने पर भी सभी प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करना कहा है। क्योंकि इनके समय के शिष्यों का चित्त चंचल होने से अन्धकघोटक न्याय से उन्हें सभी प्रतिक्रमण यथासमय करना ही होता है।

जैसे एक घोड़े की आँख की ज्योति नष्ट हो गई। एक वैद्य के यहाँ आँख ठीक करने की दवाई तो थी किन्तु उसे पता नहीं था कि कौन सी दवा है उसने कहा कि आप इस घोड़े की आँख में सभी दवाई प्रयोग करते चलिये जो आँख खुलने की होगी उससे आँख खुल जायेगी। घोड़े के स्वामी ने ऐसा ही किया तब जब आँख की औषधि का क्रम आ गया तब एकदम औषधि लगते ही आँख खुल गई इसे अन्धघोटक न्याय कहते हैं। इसी प्रकार साधु सभी दण्डकों का उच्चारण करते हैं जिस किसी एक पर भी मन स्थिर हो जाने से दोषों का विनाश हो जाता है।

मध्यम तीर्थंकरों के शासन के शिष्य दृढ़बुद्धि वाले स्मरण शक्ति से सहित एकाग्रचित्त वाले होते हैं किन्तु आदि और अन्तिम तीर्थंकर के शासन के शिष्य चंचल मन वाले मोह से सहित ऋजुजडमति वाले और वक्रजडमति वाले होते हैं। यही कारण है कि आज सभी प्रतिक्रमण करना जरूरी है।[1]

---

१ सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥१५४॥
जावदु अप्पणो वा अण्णदरे वा भवे अदीचारो।
तावदु पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥१५५॥
इरियागोयरसुमिणादि सव्वमाचरदु मा व आचरदु।
पुरिमचरिमा दु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमंति ॥१५६॥
मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तम्हा दु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति ॥१५७॥

साधु दोष लगने पर विनयपूर्वक पिच्छिका सहित अंजलि जोड़कर गारव मान आदि दोषों को छोड़ कर कृतिकर्म करके गुरु के पास आलोचना करते हैं। और मिच्छा मे दुक्कडं आदि दण्डकों का उच्चारण कर प्रतिक्रमण करते हैं।

प्रत्याख्यान

भविष्यत् और वर्तमान के दोषों का निराकरण करना प्रत्याख्यान है। इसके भी छह भेद हैं—पाप के उत्पन्न करने वाले अयोग्य नाम नहीं रखना नहीं रखवाना और न अनुमोदना करना नाम प्रत्याख्यान है। मिथ्या देवता आदि के प्रतिबिंब की स्थापना नहीं करना स्थापना प्रत्याख्यान है। सावद्य अथवा निरवद्यद्रव्य का त्याग करना द्रव्य प्रत्याख्यान है। जहाँ रहने से असंयमादि उत्पन्न हो ऐसे क्षेत्र का त्याग करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। असंयमोत्पादक काल का त्याग करना काल प्रत्याख्यान है। मिथ्यात्व असंयम कषायादि भावों का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अन्तर है ?

भूतकाल के अतिचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है और वर्तमान तथा भविष्य के दोषों का त्यागना प्रत्याख्यान है। अथवा व्रतादि के अतिचारों का त्यागना प्रतिक्रमण है और अतिचार के कारण जो सचित्त अचित्त और मिश्रपदार्थ इनका तप के लिए त्यागना अथवा प्रासुक द्रव्यों का भी त्याग करना प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान के दश भेद

अनागत—भविष्यत् काल में किये जाने वाले उपवास आदि अनागत हैं जैसे चतुर्दशी के दिन किया जाने वाला उपवास त्रयोदशी को कर लेना यह अनागत प्रत्याख्यान है।

अतिक्रांत—चतुर्दशी आदि में किये जाने वाले उपवासादि को प्रतिपदा आदि में करना यह अतिक्रांत प्रत्याख्यान है।

कोटिसहित—कल दिन में स्वाध्याय के अनन्तर यदि शक्ति होगी तो उपवास करूँगा अन्यथा नहीं करूँगा ऐसा संकल्प करके जो प्रत्याख्यान होता है वह कोटिसहित प्रत्याख्यान है।

पुरिमचरिमा दु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सब्व पडिक्कमण [illegible] गा ॥२५॥

नियंत्रित—पाक्षिक आदि में अवश्य करने योग्य उपवासादि करना नियंत्रित प्रत्याख्यान है।

साकार—सर्वतोभद्र कनकावली, आदि उपवासों को करना यह भेद सहित होने से साकार प्रत्याख्यान है।

अनाकार—स्वेच्छा से—नक्षत्रादि कारणों के बिना उपवासादि करना अनाकार प्रत्याख्यान है।

परिमाणगत—कालप्रमाण सहित उपवास करना—जैसे षष्ठ बेला अष्टम-तेला आदि उपवास करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

अपरिशेष—यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

अध्वानगत—मार्गविषयक त्याग—जैसे इस जंगल में निकलने तक या यह नदी पार करने तक आहार का त्याग करना अध्वानगत प्रत्याख्यान है।

सहेतुक—उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना यह सहेतुकप्रत्याख्यान है।

अशन पान खाद्य और स्वाद्य के भेद से आहार चार प्रकार का है। प्रतिदिन आहार के अनंतर जो अगले दिन आहार ग्रहण करने तक चतुराहार का त्याग किया जाता है। वह भी प्रत्याख्यान कहलाता है।

कायोत्सर्ग

काय से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। इसके भी नामादि की अपेक्षा छह भेद हैं—तीक्ष्ण कठोर आदि पापयुक्त नाम से आये हुए दोषों का परिहार करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नाम कायोत्सर्ग है। पाप स्थापना के द्वारा आये हुए अतिचार को दूर करने के लिए किया गया कायोत्सर्ग स्थापना कायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए दोष के नाशार्थ किया गया कायोत्सर्ग द्रव्य कायोत्सर्ग है। पापयुक्त क्षेत्र के सेवन से हुए दोष के नाशार्थ जो कायोत्सर्ग है वह क्षेत्र कायोत्सर्ग है। सावद्य काल के आचरण से प्राप्त हुए दोष परिहारार्थ कायोत्सर्ग करना काल कायोत्सर्ग है और मिथ्यात्व आदि दोषों के दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है वह भाव कायोत्सर्ग है।

[illegible] जिनमुद्रा से निश्चल होकर शुभध्यान में स्थिर होना कायोत्सर्ग है।

'कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट प्रमाण एक वर्ष है और जघन्य प्रमाण अन्तमुहूर्त है। मध्यम कायोत्सर्ग के एक अन्तमुहूर्त से लेकर एक वर्ष के मध्यगत अनेकों भेद हो जाते हैं'[1]। 'एक बार णमोकार मन्त्र के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं। यथा—णमो अरिहंताणं पद बोलकर श्वास ऊपर खींचना और 'णमो सिद्धाणं' पद बोलकर श्वास नीचे छोड़ना ऐसा एक श्वासोच्छ्वास हुआ। ऐसे ही णमो आइरियाणं और 'णमो उवज्झायाणं में एक श्वासोच्छ्वास तथा णमो लोए और सव्व साहूणं इस पद में एक श्वासोच्छ्वास ये तीन उच्छ्वास हो जाते हैं। आगे कायोत्सर्गों का प्रमाण बतलाने में आचार्य उच्छ्वासों से गणना बताते हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में १०८ उच्छ्वास होते हैं। अर्थात् वीर भक्ति के प्रारम्भ में ३६ बार णमोकार मंत्र जपने में १०८ उच्छ्वास हो जाते हैं। रात्रिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में ५४ उच्छ्वास (१८ बार णमोकार जाप्य) पाक्षिक प्रतिक्रमण के कायोत्सर्ग में ३०० उच्छ्वास चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में ४०० उच्छ्वास तथा सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में ५०० श्वासोच्छ्वासों में महामंत्र का ध्यान होता है।

पाँच महाव्रतों में से किसी भी महाव्रत में अतिचार लगने पर १०८ उच्छ्वास किये जाते हैं।

आहार के अनन्तर गोचर प्रतिक्रमण में, ग्राम से ग्रामान्तर गमन में, जिनेन्द्रदेव के पंचकल्याण स्थानों की वंदना में, साधु की निषद्या वन्दना में तथा मल मूत्र विसर्जन के अनन्तर मुनिराज २५ उच्छ्वास पूर्वक नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर कायोत्सर्ग करते हैं। अर्थात् उपर्युक्त स्थान के कायोत्सर्ग में २५ उच्छ्वास ही किये जाते हैं।

ग्रंथ स्वाध्याय के प्रारम्भ और समापन में तथा देव वंदना में जो कायोत्सर्ग होता है उसमें २७ उच्छ्वास किये जाते हैं। कायोत्सर्ग के अनन्तर साधु धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में स्थिर होते हैं। स्थिर मुद्रा के करने से जैसे अङ्गोपांगों की सन्धियाँ मिल जाती हैं वैसे ही कायोत्सर्ग के करने से कर्मधूलि झड़ जाती है।

---

१ संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥१८४॥

—मूलाचार पृ० ३३७।

सम्पूर्ण वाञ्छित सिद्ध हो जाते हैं ।[1]

अन्यत्र भी कहा है—

"छींक आने पर, जँभाई लेने पर, खांसी आदि आने पर या अकस्मात् कहीं वेदना के उठ आने पर या निद्रा आ जाने पर इत्यादि प्रसंगों पर महामंत्र का जाप करना चाहिए। सोते समय और सोकर उठते ही णमोकार मंत्र का स्मरण करना चाहिए[2]। कहने का तात्पर्य यही है कि हमेशा महामंत्र का ध्यान व चिन्तन या उच्चारण करते रहना चाहिए। इससे विघ्नों का नाश होता है, शांति मिलती है तथा क्रम से ध्यान की सिद्धि होती है।

कायोत्सर्ग के ३२ दोष

अब कायोत्सर्ग के ३२ दोष बतलाते हैं—

१ घोटक दोष—घोड़े के समान एक पैर उठाकर अर्थात् एक पैर से भूमि को स्पर्श न करते हुए खड़े होना।

२ लता दोष—वायु से हिलती लता के समान हिलते हुए कायोत्सर्ग करना।

३ स्तंभ दोष—स्तंभ का सहारा लेकर अथवा स्तंभ के समान शून्य हृदय होकर कायोत्सर्ग करना।

४ कुड्य दोष—दीवाल आदि का आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना।

५ माला दोष—पीठादि-पाटा आदि के ऊपर आरोहण कर अथवा मस्तक के ऊपर कोई रज्जु वगैरह वस्तु का आश्रय लेकर खड़े होना।

६ शबरी दोष—भिल्लनी के समान गुह्य अंग को हाथों से ढक कर या जंघा से जघन को पीडित करके खड़े होना।

---

१ उत्तिष्ठन् निपतन् पतन्नपि धरापीठे स्खलन् वा स्मरन् ।
जाग्रन् प्रहसन् स्वपन्नपि वने बिभ्यन्निशीथेऽपि वा ॥
गच्छन् वर्त्मनि वेश्मनि प्रतिपदं कर्म प्रकुर्वन्नपि ।
यः पंचप्रभुमंत्रमेकमनिशं किं तस्य नो वाञ्छितं ॥
—णमोकारमंत्रमाहात्म्य

२ क्षुतार्तौ भयज भेल्लापारिम्भस्खलन बध ।
शयने विस्मयादौ च स्मर्तव्यो प्रजितो जिन ॥१०॥—आचारसार

७ निगड दोष—अपने दोनो पैरो को बेड़ी से जकड़े हुए की तरह पैरों में बहुत अंतराल करके खड़े होना।

८ लंबोत्तर दोष—नाभि से ऊर्ध्व भाग को लंबा करके अथवा कायोत्सर्ग में स्थित हुए अधिक ऊँचे होना या झुकना।

९ स्तनदृष्टि दोष—अपने स्तन भाग पर दृष्टि रखना।

१० वायस दोष—कौवे के समान इधर उधर देखना।

११ खलीन दोष—जैसे घोड़ा लगाम लग जाने से दाँतों को घिसता कटकट करता हुआ सिर को ऊपर नीचे करता है वैसे ही दाँतों को कटकटाते हुए सिर को ऊपर नीचे करना।

१२ युग दोष—जैसे कंधे के जुए से पीड़ित बैल गरदन फैला देता है वैसे ही ग्रीवा को लम्बी करके कायोत्सर्ग करना।

१३ कपित्थ दोष—कैथ की तरह मुट्ठी बाँध कर कायोत्सर्ग करना।

१४ शिर प्रकंपित दोष—कायोत्सर्ग करते समय सिर हिलाना।

१५ मूक दोष—मूक मनुष्य के समान मुख विकार करना नाक सिकोड़ना।

१६ अंगुलि दोष—कायोत्सर्ग करते समय अंगुलियों से गणना करना।

१७ भ्रूविकार दोष—कायोत्सर्ग करते समय भृकुटियों को चलाना या विकार युक्त करना।

१८ वारुणीपायी दोष—मदिरापायी के समान झूमते हुए कायोत्सर्ग करना।

१९ से २८ दिशावलोकन दोष—कायोत्सर्ग करते समय पूर्वादि दिशाओं का अवलोकन करना। इसमें दश दिशा सम्बन्धी दश दोष हो जाते हैं।

२९ ग्रीवोन्नमन दोष—कायोत्सर्ग करते समय गर्दन को ऊँचा उठाना।

३० प्रणमन दोष—कायोत्सर्ग में गर्दन अधिक नीचे झुकाना।

३१ निष्ठीवन दोष—थूकना, श्लेष्मा आदि निकालना।

३२ अंगामर्श दोष—कायोत्सर्ग करते में शरीर का स्पर्श करना।

इन बत्तीस दोषों को छोड़कर धीर साधु दुःखों का नाश करने के लिए माया से रहित विशुद्धतासहित अपनी शक्ति और अवस्था—उम्र के अनुरूप कायोत्सर्ग करते हैं। ■

५ नित्य नैमित्तिक क्रियायें

दैनिक चर्या

साधुओं के लिए अहोरात्र संबंधी जो अट्ठाईस कृतिकर्म या कायोत्सर्ग बतलाये गये हैं। साधु किस-किस कृतिकर्म का प्रयोग किस किस काल में करते हैं सो देखिये—

निज आत्मस्वरूप में चित्त का स्थिर हो जाना इसका नाम योग अथवा समाधि है। इस योग की सिद्धि के लिए पहले उसकी योग्यता उत्पन्न करने हेतु जो क्रियायें पाली जाती हैं उन्हे परिकर्म कहते हैं। ये साधु इस परिकर्म के स्वाध्याय आदि भेदों का प्रतिदिन पालन करते ही रहते हैं। क्योंकि परिकर्म के बिना योग की सिद्धि असंभव है और योग के बिना आत्मस्वरूप की प्राप्ति भी असंभव ही है।

स्वाध्याय विधि आदि

परिकर्म का प्रथम भेद जो स्वाध्याय है उसका काल और उसकी विधि बताते हैं। स्वाध्याय के काल चार हैं—गोसर्गिक आपराह्णिक, प्रादोषिक और वैरात्रिक अथवा इन्हें पौर्वाह्णिक अपराह्णिक, पूर्वरात्रिक और अपररात्रिक नामों से भी जाना जाता है। सूर्योदय से दो घड़ी (४८ मिनट) बाद से लेकर मध्याह्न के दो घड़ी पहले तक पौर्वाह्णिक स्वाध्याय का काल है। मध्याह्न के दो घड़ी बाद से लेकर सूर्यास्त के दो घड़ी पहले तक अपराह्णिक स्वाध्याय का काल है। सूर्यास्त के दो घड़ी बाद से अर्द्धरात्रि के दो घड़ी पहले तक पूर्वरात्रिक स्वाध्याय का काल है और अर्धरात्रि में दो घड़ी बाद से लेकर सूर्योदय के दो घड़ी पहले तक अपररात्रिक स्वाध्याय का काल है।

निद्रा समाप्त कर उठने के बाद सबसे प्रथम अपररात्रिक स्वाध्याय का विधान है। साधु लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करते हैं पुनः स्वाध्याय करके लघु श्रुत भक्ति के द्वारा निष्ठापन कर देते हैं।[1]

---

१ ... पु... ...त्सर्ग करोम्यहं। ...अतिक्रम करवे अहं ... अपररात्रिकस्वाध्याय... ...प्रसो प्रतिक्षा ... ...श्रुत... इत्यादि

एक योजन के भीतर स-यास धारण करने वाल का महान् उपवास हो उन न्नि को छोडकर तथा समम्त पव के दिन और आवश्यक क्रियाओ के समय का छोडकर बाकी के समय म वि-शुद्धि प्रद ऐसी काल-शुद्धि होती है। यदि आचाय का स्वगवास अपने ही गाँव म हो तो सात दिन तक, यदि चार कोश के भीतर हा तो तीन दिन तक और यदि किसी दूर क्षेत्र में हो तो एक दिन तक वाचना स्वाध्याय नही करना चाहिए।

'पिछली रात्रि के स्वाध्याय की निष्ठापना करके भूमि मे स्थित होकर पूर्वाह्ण वाचना स्वाध्याय हेतु पूर्वादि दिशाओ म नव नव गाथाओं का उच्चारण करते हुए कायोत्सग करने स प्रत्येक दिशाओ की शुद्धि होती है यह काल-शुद्धि की विधि है[1]।'

जिस समय बिजली चमक रही हो इन्द्रधनुष दिख रहा हो पृथ्वी कपायमान हो रही हो अग्नि लग रहा हा युद्ध चन्द्रग्रहण सूयग्रहण अकालवष्टि या मेघ गजना हो रही हो उस समय भी वाचना स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

पूर्वाह्ण स्वाध्याय के अनन्तर अपराह्ण स्वाध्याय के लिए णमोकार मत्र की ७ ७ गाथा चारो दिशाओ मे पढकर दिक्शुद्धि करनी चाहिए। इसी प्रकार अपराह्ण स्वाध्याय के अनंतर पूवरात्रिक स्वाध्याय हेतु चारो दिशाओ में क्रम से पाच-पाच गाथा पढकर दिक्शुद्धि की जानी चाहिये। पश्चिम-रात्रिक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि के कारणो का अभाव होने से सूत्रादि ग्रन्थो की वाचना नही की जाती है। आकाशगामी चारण ऋद्धिधारी अवधिज्ञानी आदि मुनियो के क्षेत्र शुद्धि होने से वे पश्चिम रात्रि म भी वाचना स्वाध्याय करते हैं[2]। यह दिक शुद्धि का विधान अन्यत्र[3] भी है—

---

१ निष्ठाप्य पश्चिमस्यामास्वाध्याय शुद्धभूस्थित ।
व्युत्सर्गोन्दकोनात्प्रचतोधनिना न्शि ॥७३॥
नवार्थापाठकालेन प्रत्यक शोधयन्य ।
पूर्वाह्णवाचनाहतो का-शुद्धिविधिस्त्वय ॥७४॥ —आचारसार प ९३।

२ व्योमाचन्कुन्गतस्यचारणावधिवोधिनाम ।
वाचना पश्रात्रौ नु क्षत्र-शुद्धयुपक्रमत ॥७९॥ —आचारसार प० ९५।

३ णवसत्तपचगाहापरिमाणं न्सिविभागसोधीए।
पुव्वह्ने अवरह्ने पदोसकाले य स-झाए॥ —मलाचार अ ५।

भावशुद्धि—यश, पूजा, पुरस्कार या पारितोषिक की इच्छा न रखते हुए अहंकार रहित और श्रुतज्ञान रूपी अमृत के आनंद में मग्न बुद्धि का होना भाव शुद्धि है।

इस तरह चारों प्रकार की शुद्धियों को करके तथा अपने हाथ-पैरों को शुद्धकर शुद्धदेश में स्थित होकर भक्तिपूर्वक विधि के अनुसार क्रिया करके साधु पर्यंकासन से बैठ जाते हैं और आचार्य के पादकमलों को नमस्कार करके अपने कक्ष आदि अंगों को स्पर्श न करते हुए अंजुलि जोड़कर सूत्रों का अध्ययन करते हैं। काल के अनुसार ही वाचना स्वाध्याय करके विसर्जन कर देते हैं। वाचना नाम के स्वाध्याय में ही यह विधि है किंतु पुराण आराधना पंचसंग्रह आदि शास्त्रों के स्वाध्याय में इस विधि की आवश्यकता नहीं है। गणधरदेव अभिन्नदशपूर्वी प्रत्येक बुद्ध और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित ग्रन्थ सूत्र कहलाते हैं। ऐसे सूत्र के अध्ययन में ही द्रव्यादिशुद्धि की आवश्यकता मानी है।

इस विधि का उल्लंघन करके जो सूत्रों का स्वाध्याय करते हैं वे अनेक प्रकार के रोग असमाधि स्वाध्याय भंग आदि अनेक दुःखों को प्राप्त करते हैं।[1]

संशय को दूर करने के लिए प्रहास उद्धतता को छोड़कर तथा बड़प्पन न दिखाते हुए बड़ी नम्रता के साथ जो पूछना है वह पृच्छना स्वाध्याय है।

जाने हुए तत्वों का बार बार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

शब्दों के उच्चारण के दोषों से रहित बार बार पढ़ना पाठ करना या घोकना (रटना) आम्नाय नाम का स्वाध्याय है।

द्वादशांग श्रुतज्ञान का अथवा उसके एकदेश का उपदेश देना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है।

स्वाध्याय से मुनियों की बुद्धि तीक्ष्ण होती है अन्तरंग प्रसन्न होता है। और असंख्यात-गुणश्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती है। महान् सिद्धांत ग्रंथ धवला में भी कहा है—

व्याख्यान करने वालों और सुनने वालों को भी द्रव्यशुद्धि क्षेत्रशुद्धि कालशुद्धि और भावशुद्धि से व्याख्यान करने या सुनने में प्रवृत्ति

---

१ [illegible] सूत्र [illegible]।
[illegible] ॥ —आचारसार पृ० ९३।

करनी चाहिये। उनमें ज्वर कुक्षि रोग शिरोरोग कुत्सित स्वप्न रुधिर विष्टामूत्रलेप अतिसार और पीव का बहना इत्यादिका का शरीर में न रहना द्रव्यशुद्धि है। व्याख्याता से अधिष्ठित प्रदेश से चारों ही दिशाओं में अट्ठाईस हजार (धनुष) प्रमाण क्षेत्र में विष्ठा मूत्र हड्डी केश नख और चमड़े आदि के अभाव को तथा छह अतीत वाचनाओं से (?) समीप में [या दूरी तक] पंचेंद्रिय जीव के शरीर संबंधी हड्डी, चमड़ा मांस और रुधिर के संबंध के अभाव को क्षेत्रशुद्धि कहते हैं। बिजली, इन्द्रधनुष सूर्य चन्द्र का ग्रहण अकालवृष्टि मेघगर्जन मेघों के समूह से आच्छादित दिशा में दिशादाह धूमिकापात (कुहरा) संन्यास महोपवास नन्दीश्वरमहिमा और जिनमहिमा इत्यादि के अभाव को कालशुद्धि कहते हैं।"

यहाँ कालशुद्धि करने के विधान को कहा है। वह इस प्रकार है— पश्चिम रात्रि के स्वाध्याय को समाप्त करके बाहर निकल कर प्रासुक भूमिप्रदेश में कायोत्सर्ग से पूर्वाभिमुख स्थित होकर नौ गाथाओं के उच्चारण काल से पूर्व दिशा को शुद्ध करके फिर प्रदक्षिण रूप से पलट कर इतने ही काल से दक्षिण पश्चिम व उत्तर दिशाओं को शुद्ध कर लेने पर ३६ गाथाओं के उच्चारण काल से अथवा १०८ उच्छ्वास काल से कालशुद्धि समाप्त होती है। अपराह्न काल में भी इसी प्रकार से काल शुद्धि करना चाहिये। विशेष इतना है कि इस समय की कालशुद्धि प्रत्येक दिशा में ७-७ गाथाओं द्वारा ८४ उच्छ्वासों में समाप्त होती है। पश्चात् सूर्यास्त होने से पहले क्षेत्रशुद्धि करके सूर्यास्त हो जाने पर काल शुद्धि पूर्ववत् करना चाहिये। इसमें प्रत्येक दिशा में ५-५ गाथा के उच्चारण से २ गाथाओं द्वारा ६० उच्छ्वास में यह काल शुद्धि होती है। अपररात्रि—रात्रि के पिछले भाग में वाचना नहीं है। क्योंकि उस समय क्षेत्रशुद्धि करने का कोई उपाय नहीं है[2]। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, समस्त अङ्गश्रुत के धारक आकाश स्थित चारण तथा मेरु कुलाचलों में स्थित चारण ऋषियों के अपर रात्रिक वाचना भी है क्योंकि वे क्षेत्र

---

१ तत्थ वक्खाणतहि मुणतहिं वि ...कालभावसुद्धी... ...। ...
कायव्वो। तत्थ ज्वरकुक्षिशिरोरोग... धवला पु० ९।
२ पच्छिमरत्तियसज्झाय ... भूमिपदेसे काओ
सग्गे... पुव्वाहिमुहो ... । पृ० २५३ से ।

शुद्धि से रहित है अर्थात् भूमि पर न रहने से उनके क्षेत्र शुद्धि का आशय समझा नहीं होगी।

राग द्वेष अहंकार आर्त एवं रौद्र ध्यान से रहित पाँच महाव्रतों से युक्त तीन गुप्तियों से रक्षित तथा ज्ञान दर्शन चारित्र आदि आचार से वृद्धि को प्राप्त साधु के भावशुद्धि होती है।

यहाँ उपयोगी श्लोक इस प्रकार हैं—

यम पटह का शब्द सुनने पर अङ्ग से रक्त स्राव बहने पर अतिचार के होने पर तथा दाताओं के अशुद्ध काय होते हुए भोजन कर लेने पर स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

तिल मोदक चिउड़ा लाई और पुआ आदि चिक्कण एवं सुगंधित भोजनों के खाने पर तथा दावानल का धुआ होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिये।

एक योजन के अन्दर संन्यास विधि के होने पर महोपवास विधि आवश्यक क्रिया एवं केशों का लोच होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिये।

आचार्य का स्वर्गवास होने पर सात दिन तक योजन मात्र में तीन दिन तक और अति दूर में होने पर एक दिन तक अध्ययन का निषेध है।

प्राणी के तीव्र दुःख से मरणासन्न होने पर या अत्यन्त वेदना से तड़फड़ाने पर तथा एक निवर्तन (एक बीघा या गुंठा) मात्र में तिर्यञ्चों का संचार होने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए।

उतने मात्र में स्थावरकाय जीवों के घातरूप कार्य में प्रवृत्त होने पर, क्षेत्र की अशुद्धि होने पर दूर से दुर्गन्ध आने पर अथवा अत्यंत सड़ी गंध के आने पर ठीक अर्थ समझ में न आने पर (?) अथवा अपने शरीर के शुद्धि से रहित होने पर मोक्षसुख के चाहनेवाले व्रती पुरुष को सिद्धान्त का अध्ययन नहीं करना चाहिए।

मल छोड़ने की भूमि से सौ अरत्नि प्रमाण दूर तनुसलिल अर्थात् मूत्र के छोड़ने में भी इस भूमि से पचास अरत्नि दूर मनुष्य शरीर के लेशमात्र अवयव के स्थान से पचास धनुष तथा तिर्यंचों के शरीर संबंधी अवयव के स्थान से उससे आधी मात्र अर्थात् पच्चीस धनुष प्रमाण भूमि को शुद्ध करना चाहिए।

व्यंतरा व द्वारा भेरीताडन करने पर उनकी पूजा या संकट होनेपर वपण के होनेपर चाण्डाल बालको के समान म झाडा बुहारी करने पर अग्नि जन य रुधिर की तीव्रता होनेपर तथा जीवो के मास व हड्डिया क निकाले जाने पर क्षेत्र की विशुद्धि नहीं होती जैसा कि सावना ने कहा है।

क्षेत्र की शुद्धि करन के पश्चात अपने हाथ और परो को शुद्ध करके सम्नतर विशुद्ध मन युक्त होता हुआ प्रासुक देश मे स्थित होकर वाचना को ग्रहण करें।

वह साधु बाजू और कांख आदि अपने अग का स्पश न करता हुआ उचित रीति स अध्ययन करे और यत्नपूवक अध्ययन करके पश्चात् शास्त्रविधि स वाचना को छोड दें।

साधु पुरुषो ने बारह प्रकार के तप मे स्वाध्याय को श्रेष्ठ कहा है। इसीलिए विद्वानो को स्वाध्याय न करने के दिनो को जानना चाहिए।

पवदिना (अष्टमी व चतुदशी आदि) नदीश्वर के श्रेष्ठ महिमदिवसो अथात अष्टाह्निक दिनो में और सूय चन्द्र का ग्रहण होनेपर विद्वान् व्रती को अध्ययन नही करना चाहिये।

अष्टमी में अध्ययन गुरु और शिष्य दोनो के वियोग को करता है। पूर्णमासी के दिन किया गया अध्ययन कलह और चतुदशी के दिन किया गया अध्ययन विघ्न को करता है।

यदि साधु जन कृष्ण चतुदशी और अमावस्या के दिन अध्ययन करते हैं तो विद्या और उपवासविधि सब विनाशवृत्ति को प्राप्त होते हैं।

मध्याह्न काल म किया गया अध्ययन जिनरूप को नष्ट करता है। दोनो सध्याकालों म किया गया अध्ययन व्याधि को करता है तथा मध्यम रात्रि को किये गये अध्ययन स अनुरक्त जन भी द्वेष को प्राप्त होते हैं।

अतिशय तीव्र दु ख से युक्त और रोते हुए प्राणियो को देखने या समीप म होने पर मेघों की गजना व बिजली के चमकने पर और अति वृष्टि के साथ उल्कापात होने पर (अध्ययन नही करना चाहिये)।

सूत्र और अथ की शिक्षा के लोभ से किया गया द्रव्यादि शुद्धि

सुलोचना आर्यिका का उदाहरण भी है—"वह सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंग के ज्ञान को धारण करने वाली हो गई थी[1]।

क्षुल्लक ऐलक, श्रावक आदि को सिद्धांत ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं है। यथा—

दिन में प्रतिमायोग धारण करना—दिन में नग्न होकर कायोत्सर्ग करना वीरचर्या—मुनि के समान गोचरी करना त्रिकालयोग—गर्मी में पर्वत के शिखर पर बरसात में वृक्ष के नीचे और सर्दी में नदी के किनारे ध्यान करना सिद्धांत ग्रन्थों का अध्ययन और रहस्य—प्रायश्चित्त ग्रन्थों का अध्ययन इतने कार्यों में देशविरतों (क्षुल्लक-ऐलक पर्यंत) श्रावकों को अधिकार नहीं है[2]।

कुछ क्षण अर्थात् अधिक से अधिक चार घडी प्रमाण जो मध्यरात्रि का काल स्वाध्याय के लिए अयोग्य है उतने कालमात्र (डेढ़ घंटे मात्र) योगनिद्रा से श्रम दूर करके—शरीर को विश्रांति देकर साधु जागृत हो जाते हैं। और अपररात्रिक स्वाध्याय प्रारंभ कर देते हैं। विधिवत् स्वाध्याय करके सूर्योदय होने के दो घडी पहले विसर्जित कर देते हैं[3]।'
पुनः बाहर निकलकर प्रासुक प्रदेश में खड़े होकर दिग्दाह उल्कापात मेघ गर्जनादि अकाल से रहित देखकर पूर्वाह्न स्वाध्याय हेतु दिक् शुद्धि करते हैं। अर्थात् पूर्व दिशा में मुख करके कायोत्सर्ग मुद्रा से २७ उच्छ्वासों में ९ बार जाप्य करते हैं पुनः इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशा की शुद्धि करते हैं।

---

१ एकादशांगभृज्जाता सार्यिकापि सुलोचना ॥

—हरिवंश पु० पृ० २१३

२ दिणपडिमवीरचरियातियालजोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धंत रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं ॥

—वसुनन्दिश्रावकाचार प० ११२

वीरचर्या दिनच्छाया सिद्धांत त्रिकालयोगे
नैवाहें योऽरयोगस्य विद्यते नाधिकारिता ॥१८८॥

—गुण श्राव०

३ क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके।
स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिकाशेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ॥

—अनगार ध० पृ० ६३२

प्रतिक्रमण क्रिया

अनंतर वे साधु पश्चिम रात्रि में[1] रात्रिक प्रतिक्रमण करते समय आचार्य के पास सभी साधु विनय से बैठकर 'जीवे प्रमादज' इत्यादि पाठ बोलते हुए करते हैं। इसमें सिद्ध भक्ति प्रतिक्रमण वीर भक्ति और चतुर्विंशति भक्ति ऐसे चार भक्तियां होती हैं। भक्ति के प्रारंभ में ५४ उच्छ्वास में १८ बार णमोकार मंत्र का किया जाता है।

रात्रि योग निष्ठापना—पुन रात्रि योग निष्ठापना करते हैं अ सायंकाल प्रतिक्रमण के बाद जो रात्रि योग ग्रहण किया था (मैं आ रात्रि में इसी वसतिका में निवास करूँगा) इस रात्रि योग का यं भक्ति द्वारा विसर्जन कर देते हैं[2]। उसकी विधि यह है कि विधिव कायोत्सर्ग करके योग भक्ति पढ़ते हैं। पुन सभी साधु लघु आचा भक्ति के द्वारा आचार्य भक्ति पढ़कर आचार्य वंदना करते हैं। यदि आचार्य प्रत्यक्ष में नहीं हैं तो परोक्ष में ही वन्दना करते हैं।

इतने में रात्रि की शेष रही दो घड़ी (४८ मिनट) का काल व्यतीत हो जाता है। पुन सूर्योदय के समय साधु देववंदना अर्थात सामायिक क्रिया को विधिवत् करते हैं।

देववंदना प्रयोग विधि

त्रिकाल देववंदना—सामायिक करने में चैत्यभक्ति और पंचगु भक्ति इन दो भक्तियों का विधिवत प्रयोग किया जाता है। पुन सव दोष विशुद्धि के लिए प्रिय भक्ति—समाधि भक्ति पढ़ी जाती है।

इस देववन्दना में कृतिकर्म के छह भेद होते हैं—

स्वाधीनता त्रिःपरीति त्र्योनिषद्या त्रिवार कायोत्सर्ग द्वादश

१ पूर्व यमरात्रौ प्रतिक्रमणे क्रियाकर्माणि चत्वारि ।

—आचा० टीका पृ० ४१९

२ [illegible] [illegible] [illegible] स्वाध्यायमिति नियमविधान योगिभक्त्या [illegible] निष्ठाप्य ।

—अनगार ध० अ० ९

अथ रात्रियोगनिष्ठापन क्रमाया पूर्व योगभक्तिकायोत्सर्ग करना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] कायोत्सर्ग और योगभक्ति [illegible] [illegible] [illegible] लघु योग भक्ति पढ़ना है।

आवर्त और चार शिरोनति इस प्रकार कृतिकर्म-वंदना के छह भक्ति अथवा अंग हैं[1]।'

सिद्धान्त ग्रंथ में भी कहा है—

आदाहीण पदाहीण तिक्खुत्त तिऊणदं चदुसिरं बारसावत्तं चेदि[2]।"

१ वंदना करने वाले की स्वाधीनता, २ तीन प्रदक्षिणा ३ तीन भक्ति संबंधी तीन कायोत्सर्ग ४ तीन निषद्या—ईर्यापथ कायोत्सर्ग के अनंतर बैठकर आलोचना करना और चैत्यभक्ति संबंधी विज्ञापन करना, चैत्यभक्ति के अन्त में बैठकर आलोचना करना और पंचमहागुरु भक्ति सम्बन्धी क्रिया विज्ञापन करना पंचमहागुरुभक्ति के अन्त में बैठकर आलोचना करना, ५ चार शिरोनति, और ६ बारह आवर्त। यहाँ सब आगे किया जाता है।

'जिणसिद्धाइरियबहुसुदेसु वंदिज्जमाणेसु जं कीरइ कम्मं तं किदियम्मं णाम। तस्स आदाहीण तिक्खुत्त-पदाहिण तिओणद चदुसिर-बारसावत्तादिलक्खणं विहाणं फलं च किदियम्मं वण्णेदि[3]।

जिन सिद्ध आचार्य और बहुश्रुत की वंदना करने में जो क्रिया की जाती है उसे कृतिकर्म कहते हैं। उस कृतिकर्म के आत्माधीनता तीन बार प्रदक्षिणा तीन अवनति चार नमस्कार और बारह आवर्त आदि रूप लक्षण भेद तथा फल का वर्णन कृतिकर्म प्रकीर्णक करता है।

---

१ त्रिसंध्यं वन्दने युञ्ज्याच्चैत्यपंचगुरुस्तुती।
प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वन्ते दोषविशुद्धये॥
स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ता।
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम्॥

—अनगार धर्मामृत पृ० ६३७

२ धवला

३ जं तं किरियकम्मं णाम ॥२६॥ तस्स अत्थविवरणं कस्सामो। तमादाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तिओणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम ॥२७॥ तं किरियाकम्मं छव्विहं आदाहीणादि भेएण। तत्थ किरियाकम्मं कीरमाणे अप्पायत्तत्तं अपरवसत्तं आदाहीणं णाम। वंदणकाले गुरु जिण जिणहराणं पदक्खिणं काऊण णमंसणं पदाहीणं णाम पदाहीणणमंसणादिकिरियाणं तिण्णि वारकरणं तिक्खुत्तं णाम। अथवा एक्कम्हि चेव दिवसे जिणगुरुरिसिवंदणाओ तिण्णि वारं किज्जंतित्ति तिक्खुत्तं णाम—ओणदं

गुरुवन्दना की विधि यह है— मुनि जब गवासन से बैठकर लघु सिद्धभक्ति और लघु आचार्य भक्ति पूर्वक आचार्य की वन्दना करते हैं। यदि आचार्य सिद्धान्त पारंगत हैं। तो लघुसिद्ध, श्रुत आचार्य इन तीन भक्ति को बोलकर वन्दना करते हैं। अपने से दीक्षा में बड़े सामान्य साधु की लघु सिद्ध भक्ति बोलकर और सिद्धान्तविद् साधु की लघु सिद्ध लघु श्रुत भक्ति पूर्वक वन्दना करते हैं¹।

प्रयोग विधि

'अथ आचार्यवन्दनायां पूर्वा सिद्धिभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहं'। ऐसी प्रतिज्ञा करके विधिवत् कायोत्सर्ग करके तवसिद्धे णयसिद्धे इत्यादि लघु सिद्धभक्ति पढ़ते हैं पुनः अथ आचार्यवदनायां पूर्वा आचार्य भक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहं ऐसी प्रतिज्ञा करके कायोत्सर्ग करके श्रुतजलधिपारगेभ्यः इत्यादि लघु आचार्य भक्ति पढ़ते हैं।

देववन्दना में कम से कम दो घडी काल का विधान है। इसलिए सूर्योदय से दो घडी काल समाप्त हो जाता है।

पूर्वाह्न स्वाध्याय

सूर्योदय के दो घडी बाद पौर्वाह्निक स्वाध्याय हेतु विधिवत् श्रुतभक्ति और आचार्य भक्ति करके स्वाध्याय प्रारंभ करते हैं और मध्याह्न के दो घडी पहले-पहले लघु श्रुत भक्ति पूर्वक स्वाध्याय विसर्जित कर देते हैं।

पुनः अपराह्निक स्वाध्याय हेतु दिक्शुद्धि करते हैं अर्थात् चारों दिशाओं में ७-७ बार णमोकार मंत्र उच्छ्वास पूर्वक जपते हैं।

मध्याह्नदेव वंदना—पुनः प्रातःकालीन देववंदना के समान विधिवत् माध्याह्निक देववंदना करके लघु सिद्धिभक्ति लघु आचार्यभक्ति पूर्वक गुरु आचार्य की वंदना करते हैं।

अनंतर यदि उस दिन उपवास है तो मुनि उस दो घडी के अस्वाध्याय काल में जाप्य व ध्यानादि करते हैं और यदि उपवास नहीं है तो वे गुरु

---

१ लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वंद्यो गवासनात्।
सद्धांतोऽत्र श्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना ॥३१॥

—अनगार ध० ३४७

आपराह्णिक वंदना—ये क्रियायें सूर्यास्त तक दो घडी में समाप्त हो जाती हैं। तब साधु सूर्यास्त के समय विधिवत् 'आपराह्णिक देववन्दना' करते हैं।

पूर्वरात्रिक स्वाध्याय—अनंतर दो घडी बाद स्वाध्याय काल में विधिवत् पूर्वरात्रिक स्वाध्याय प्रारंभ कर देते हैं जो कि (अधिक से अधिक) मध्यरात्रि के दो घडी पहले तक करते हैं। पुनः स्वाध्याय विसर्जन करके मध्यरात्रि के पहले की दो घडी और पश्चात् की दो घडी ऐसे चार घडी (डेढ घंटे) तक अस्वाध्याय[1] काल में शरीर के श्रम को दूर करने के लिए निद्रा लेते हैं। इस प्रकार से साधुओं का यह अहोरात्रिक चर्या आगम के आधार से कही गई है।

स्वाध्याय करने का आसन

पर्यङ्कासन, पद्मासन अथवा वीरासन से बैठकर पिच्छिका सहित अंजुलि जोडकर अपने वक्षस्थल के समीप रखकर नमस्कार करके विनय पूर्वक एकाग्रमना होकर साधु स्वाध्याय करते हैं। और यदि खडे होकर (पूर्वोक्त विधि से) वंदना[2] करने में शक्तिहीन होते हैं तो वे इसी तरह बैठकर अञ्जुली जोडकर वंदना करते हैं। अर्थात् पूर्व में जो देव वन्दना में खडे होकर ही चैत्य भक्ति और पंचगुरु भक्ति पढ़ते हुए वंदना करने का विधान बताया है तो यदि खडे होकर वंदना करने की शक्ति नहीं है तो साधु पर्यङ्कासन आदि आसन से बैठकर ही वन्दना करते हैं।

नैमित्तिक क्रियायें

चतुर्दशी क्रिया—चतुर्दशी के दिन त्रिकाल देववंदना में चैत्यभक्ति करके श्रुतभक्ति की जाती है पुनः पंचगुरु भक्ति होती है। अथवा चैत्य भक्ति के पहले सिद्ध भक्ति पुनः चैत्यभक्ति श्रुतभक्ति पंचगुरुभक्ति

---

१ यह अस्वाध्याय काल का सर्वोत्कृष्ट माप है। प्रायः शरीर की विश्रान्ति और स्वस्थता के लिए चार पांच या छह घंटे तक भी सोना पडता है। फिर भी जितनी निद्रा कम की जा सके उतनी कम करना चाहिए।

२ साधु पुनर्वन्दना यद नविनयपर्यङ्किकादिना—पर्यङ्क सत्रिग्मनमुकुलितकरो स्थितिरदर गुर्वां। यथा? अन्त रा। उद्भा मा बनि तु म शक्नुया पव।

—अनगार ध० पृष्ठ ६६२

श्रावक स्वाध्याय को ग्रहण नही करते हैं तो सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं।

सिद्धांतवाचना और आचारवाचना मे यही विधि होती है। अर्थात् बृहत्सिद्धभक्ति और बृहतश्रुतभक्ति पढकर सिद्धान्त-वाचना की प्रतिष्ठापना करके बृहतश्रुत और बृहदाचार्यभक्तिपूर्वक स्वाध्याय स्वीकार कर उपदेश देते हैं। पुनः श्रुतभक्ति के द्वारा स्वाध्याय समाप्त कर अन्त मे शान्तिभक्ति बोलकर क्रिया समाप्त करते हैं। वृद्ध व्यवहार के अनुसार आचारवाचना में भी यही विधि की जाती है।

साधुगण सिद्धान्त के प्रत्येक अर्थाधिकार के अन्त में कायोत्सर्ग करते हैं। तथा प्रत्येक अर्थाधिकार के अन्त मे और आदि मे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करते हैं। वाचना के दिन मे भी यही क्रिया करते हैं। जहाँ वाचना की गई है उस स्थान पर दूसरे तीसरे आदि दिन अति भक्ति प्रगट करने के लिए छह छह कायोत्सर्ग करते हैं। यह क्रिया सिद्धान्त और उसके अर्थाधिकार के प्रति उत्तम बहुमान प्रदर्शित करने के लिए कही गई है अतएव यह क्रिया अपनी शक्ति के अनुसार करनी चाहिए।

सन्यास प्रारम्भ की क्रिया—बृहत्सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति बोलकर संन्यास की प्रतिष्ठापना (ग्रहण) करते हैं। तथा संन्यास के आदि और अन्त के दिनों को छोडकर मध्य के दिनो में बृहत्सिद्धभक्ति, बृहदाचार्यभक्ति के द्वारा स्वाध्याय करके बृहत् श्रुतभक्ति के द्वारा उसका निष्ठापन करते हैं। अन्त में क्षपक-साधु के संन्यास के अन्त में क्षपक का अन्त हो जाने पर सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति करके शांतिभक्तिपूर्वक संन्यास निष्ठापना कर देते हैं[1]।

[1] जब कोई साधु सल्लेखना ग्रहण करते हैं तब यह विधि की जाती है।
सन्यासारंभकाले भक्ती सिद्धश्रुतभक्तिके।
ना गृहीतसंन्याससंवेगान्वितमानस ॥
चार्यमिध भक्ती दत्वा स्वाध्यायमुत्तमं।
श्रुतभक्त्यते युक्त्या निष्ठापयन्मुनि ॥
क्रेया सन्यासस्यमहामुने।
श्रुताख्यभक्तय ॥

—मूलाचार प्रदीप पृ० १२२।

अपने दोषों की आलोचना करके प्रायश्चित्त लेते हैं। अनन्तर सभी शिष्य साधुगण पूर्वोक्त लघु सिद्ध भक्ति, आलोचना योगभक्ति पढ़कर आचार्य वन्दना करके आचार्य से पन्द्रह दिन के अतिचारों का प्रायश्चित्त माँगते हैं। आचार्यवर्य शिष्यों को यथोचित प्रायश्चित्त (रस परित्याग-जाप्य उपवासादि) देते हैं।

अनन्तर आचार्य सभी शिष्यों के साथ प्रतिक्रमण भक्ति का कायोत्सर्ग तक क्रिया करते हैं। पुनः केवल आचार्य थोस्सामि से लेकर वार भक्ति की प्रतिज्ञा तक प्रतिक्रमण दण्डकों का उच्चारण करते हैं—पढ़ते हैं और सभी शिष्य बैठे हुए एकाग्रमना सुनते रहते हैं। अनन्तर सभी साधु थोस्सामि इत्यादि दण्डक पढ़कर आचार्य के साथ आगे की भक्तियाँ बोलते हैं। जिसमें वीरभक्ति, चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्ति, चारित्रालोचनाचार्यभक्ति, बृहदालोचनाचार्यभक्ति और लघ्वाचार्यभक्ति का पाठ है। पाक्षिक प्रतिक्रमण में वीरभक्ति के समय ३०० उच्छ्वासों में कायोत्सर्ग किया जाता है। सम्पूर्ण विधि पूर्ण हो जाने पर सभी साधु विधिवत् तीन भक्ति पूर्वक आचार्य की वन्दना करते हैं।

चातुर्मासिक प्रतिक्रमण—इसमें यही पाक्षिक प्रतिक्रमण करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि "सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं चातुर्मासिकप्रतिक्रमणक्रियायां" पाठ सर्वत्र बोला जाता है और वीरभक्ति में ४०० उच्छ्वासों में कायोत्सर्ग किया जाता है।

वार्षिक प्रतिक्रमण—इसी प्रतिक्रमण में "सांवत्सरिकप्रतिक्रमणक्रियायां" पाठ सर्वत्र बोला जाता है और वीरभक्ति में ५०० उच्छ्वासों द्वारा कायोत्सर्ग किया जाता है।

पुनः व्रतारोपण आदि विषयक चार प्रतिक्रमणों में बृहदाचार्य भक्ति और मध्याचार्य भक्ति के अतिरिक्त पाक्षिक प्रतिक्रमण की ही सारी विधि की जाती है[१]।

श्रुतपञ्चमी क्रिया—श्रुतपञ्चमी[२] के दिन साधुगण विधिवत् बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् श्रुतभक्ति करके श्रुतस्कंध की प्रतिष्ठापना करके श्रुतावतार के उपदेश का स्वीकार करके बृहत्श्रुतभक्ति और बृहत् आचार्य भक्ति पढ़कर स्वाध्याय प्रारम्भ करते हैं। पुनः श्रुतभक्ति पूर्वक स्वाध्याय की समाप्ति करके शान्तिभक्ति का पाठ करते हैं। पुनः

१ व्रतादानसमुत्सर्गे विनयावसरावार प्रतिक्रमाः स्युः। —अनगार पृ० ६६०

२ ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी श्रुतपंचमी है।

श्रावक स्वाध्याय को ग्रहण नही करते हैं तो सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शातिभक्ति करते हैं।

सिद्धातवाचना और आचारवाचना में यही विधि होती है। अर्थात बृहत्सिद्धभक्ति और बृहत्श्रुतभक्ति पढकर सिद्धान्त-वाचना की प्रतिष्ठापना करके बृहत्श्रुत और बृहदाचार्यभक्तिपूर्वक स्वाध्याय स्वीकार कर उपदेश देते हैं। पुन श्रुतभक्ति के द्वारा स्वाध्याय समाप्त कर अन्त मे शान्तिभक्ति बोलकर क्रिया समाप्त करते हैं। वृद्ध व्यवहार के अनुसार आचारवाचना में भी यही विधि की जाती है।

साधुगण सिद्धान्त के प्रत्येक अर्थाधिकार के अन्त में कायोत्सग करते हैं। तथा प्रत्येक अर्थाधिकार के अन्त म और आदि मे सिद्धभक्ति श्रुत भक्ति और आचार्यभक्ति करते हैं। वाचना के दिन मे भी यही क्रिया करते हैं। जहाँ वाचना की गई है उस स्थान पर दूसरे तीसरे आदि दिन अति भक्ति प्रगट करने क लिए छह छह कायोत्सग करते हैं। यह क्रिया सिद्धान्त और उसके अर्थाधिकार के प्रति उत्तम बहुमान प्रदर्शित करने के लिए कही गई है अतएव यह क्रिया अपनी शक्ति के अनुसार करनी चाहिए।

सन्यास प्रारम्भ की क्रिया—बृहत्सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति बोलकर सन्यास की प्रतिष्ठापना (ग्रहण) करते हैं। तथा सन्यास के आदि और अन्त के दिनो को छोडकर मध्य के दिनो मे बृहत्सिद्धभक्ति, बृहदाचार्य भक्ति के द्वारा स्वाध्याय करके बृहत् श्रुतभक्ति के द्वारा उसका निष्ठापन करते हैं। अन्त मे क्षपक-साधु क सन्यास के अन्त म-क्षपक का अन्त हो जाने पर सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति करके शातिभक्तिपूर्वक सन्यास की निष्ठापना कर देते हैं[१]।'

---

१ जब कोई साधु सल्लेखना ग्रहण करते हैं तब यह विधि की जाती है।

'सन्यासारंभकाले भक्ती सिद्धश्रुतसज्ञिते।
कृत्वा गृहीतसन्यासस्वर्गांकितमानस ॥
श्रुताचार्याभिधे भक्ती दत्वा स्वाध्यायमुत्तमं।
गृहीत्वा श्रुतभक्त्यंते युक्त्या निष्ठापयेन्मुन ॥
स्वाध्यायग्रहणे ज्ञेया सन्यासस्यमहामुन।
महाश्रुतमहाचार्यभक्त्या श्रुताख्यभक्त्य ॥

—मूलाचार प्रदीप पृ० १२२।

यदा रात्रियोग का समापन आदि अन्यत्र ग्रहण कर चुके हैं तो भी परिहारक साधु उनके दिन स्वाध्याय की प्रतिष्ठापना करके उस संस्थान वसति में ही सोवें ऐसा कहा है।

जो स्वाध्याय का ग्रहण नहीं करने वाले श्रावक हैं वे संन्यास ग्रहण के प्रथम दिन और अंतिम दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं।

नंदीश्वर क्रिया— आषाढ़ कार्तिक और फाल्गुन महीने में अष्टमी से लेकर पूर्णमासी पर्यंत प्रतिदिन साधुगण आचार्य के साथ मध्याह्न में पौर्वाह्णिक स्वाध्याय को समाप्त करके सिद्धभक्ति नन्दीश्वरभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा आष्टाह्निक क्रिया करते हैं[1]।' नंदीश्वरभक्ति करते हुए तीन प्रदक्षिणा भी करने का विधान है[2]।

अभिषेक वंदना क्रिया—जिनेन्द्र देव के महाभिषेक दिवस सिद्ध भक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करके वन्दना करते हैं।

मंगलगोचर मध्याह्न वंदना— 'वर्षायोग ग्रहण और विसर्जन के प्रसंग में मंगलगोचर मध्याह्न वन्दना होती है' अर्थात् आषाढ़ सुदी तेरस के दिन साधु मंगलार्थ गोचरी करने के पहले मध्याह्न में सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करके मध्याह्न वंदना करते हैं। इसे ही मंगलगोचर मध्याह्न वन्दना कहते हैं[3]।

मंगलगोचर प्रत्याख्यान—पुनः आहार ग्रहण करके आकर आचार्य आदि सभी साधु मिलकर बृहत्सिद्धभक्ति, बृहद्योगभक्ति करके गुरु से भक्त प्रत्याख्यान—उपवास ग्रहण करके बृहद् आचार्यभक्ति द्वारा आचार्य की वन्दना करके शान्तिभक्ति करते हैं। यही विधि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी को भी करते हैं। चूंकि वर्षायोग ग्रहण करने के लिए आषाढ़ सुदी

---

१ मिलित्वाचार्याद्या विदधतु मध्याह्ने—पौर्वाह्णिकस्वाध्यायग्रहणानन्तरम्।
—अनगार०, पृ० ६६३।

२ दीव्यन् चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरस्य हि।
वद्यमानध्वपीयानस्तद्भक्ति प्रदक्षिणा॥
—अनगार० पृ ६०७।

३ वर्षायोगग्रहणविसर्जनयोः। मंगलगोचर—मंगलार्थगोचारे मध्याह्नवन्दना
मंगलगोचरमध्याह्नवन्दना।
—अनगार०, पृ० ६६३।
भक्तं मंगलगोचारमध्याह्ने स्तवनस्तव।
सवर्ण्याग्रप्रत्याख्याननिष्ठापनेऽपि तु॥७५॥
—आचारसार, पृ० २४५।

चौदश का उपवास करते हैं और वर्षायोग निष्ठापना करने के लिए कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी का उपवास करते हैं।

वर्षायोग प्रतिष्ठापन क्रिया— 'प्रत्याख्यान प्रयोगविधि के अनन्तर—चतुर्दशी के मंगलगोचर प्रत्याख्यान ग्रहण करने के बाद आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्वरात्रि में साधु वर्षायोग प्रतिष्ठापन करते हैं[१]। आचार्य आदि सभी साधु मिलकर सिद्धभक्ति और योगभक्ति करके यावंति जिनचैत्यानि' इत्यादि श्लोक बोलकर वृषभजिन और अजितजिन की स्तुति (स्वयंभुवा भूतहितेन इत्यादि स्वयंभू स्तोत्र की) बोलकर अंचलिका सहित वर्षेषु वर्षान्तरपर्वतेषु इत्यादि चैत्यभक्ति करके पूर्वदिक् चैत्यालय की वन्दना करते हैं। ऐसे ही यावंति जिनचैत्यानि पुनः बोलकर संभवजिन और अभिनंदनजिन की त्वं संभव इत्यादि स्तुति पढ़कर अंचलिका सहित वर्षेषु इत्यादि चैत्यभक्ति पढ़ के दक्षिणदिक् चैत्यालय की वंदना करते हैं। इसी तरह सुमति पद्मप्रभजिन की स्तुति पूर्वक पूर्वोक्त चैत्यभक्ति करके पश्चिमदिक् और सुपार्श्व चन्द्रप्रभ जिन स्तुति पूर्वक चैत्यभक्ति करके उत्तर चैत्यालय की वन्दना करते हैं। साधु भाव से ही चारों दिशाओं की प्रदक्षिणा करते हैं और वहाँ पर बैठे हुए लोग ही चारों दिशाओं में योग तंदुल—पीताक्षत प्रक्षेपण करते हैं। ऐसी परंपरा है[२]।' पुनः साधु पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करते हैं। इस विधि से वर्षायोग ग्रहण करके (उस ग्राम के चारों तरफ कुछ मीलों की सीमा निश्चित करके) विधि समाप्त करते हैं।

वर्षायोग समापन विधि— कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में सभी साधु पूर्वोक्त विधि से वर्षायोग निष्ठापन कर देते हैं[३]।' अन्तर

---

१ ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तिगुरुस्तुतिम ॥६६॥
शांतिभक्ति च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम ॥६७॥
चतुर्दशीपूर्वरात्रे-आषाढशुक्लचतुर्दश्या रात्रेः प्रथमप्रहरोद्देशे।
—अनगार ध पृ ६६४।

२ स्थानस्थैरेव च योगतंदुला प्रक्षेप्तव्या इति वृद्धव्यवहारः।
—अनगार ध ६६४।

३ मुच्यतां च निष्ठाप्यतां वर्षायोगः श्रमणैस्तेनैव विधानेन। क्व पश्चाद्रात्रौ पश्चिमयामोद्देशे। कस्यां? ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां कार्तिककृष्णचतुर्दशीतिथौ।
—अनगार० पृ० ६६५।

केवल इतना ही है कि—वर्षायोग ग्रहण विधि में—

अथ वर्षायोगप्रतिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं। बोलते हैं और वर्षायोगसमापन में—

अथ वर्षायोगनिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।" बोलते हैं। बाकी सारी विधि वही की जाती है।

वर्षायोग काल की व्यवस्था

'वर्षायोग के सिवाय दूसरे समय—हेमंत ऋतु आदि में भी श्रमणसंघ को किसी भी एक स्थान या नगर में एक महीने तक निवास करना चाहिए तथा वर्षायोग के लिए जहाँ जाना है वहाँ आषाढ़ में पहुँच जाना चाहिए और मगसिर महीना पूर्ण होने पर उस क्षेत्र को छोड़ देना चाहिए। यदि कोई विशेष प्रसंग आ जावे तो श्रावणकृष्ण चतुर्थी तक वर्षायोग स्थान पर पहुँच जाना चाहिए—परंतु इस स्थिति का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार वर्षायोगनिष्ठापना यद्यपि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पिछली रात्रि में हो जाती है फिर कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहले विहार नहीं करना चाहिए। श्रावण कृष्णा चतुर्थी के बाद और कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहले वर्षायोग के काल में यदि कदाचित् दुर्निवार उपसर्ग आदि प्रसंगों से स्थान छोड़ना पड़े तो प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए।'

वीरनिर्वाण क्रिया— साधुगण कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की पिछली रात्रि में वर्षायोग निष्ठापन करके सूर्योदय के समय सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पूर्वक वीरनिर्वाण क्रिया करते हैं।[2]

---

१ मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत्।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत् ॥६८॥
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपंचमीम्।
यावन्न गच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत् ॥६९॥
—अनगार० ध० [illegible]

२ "वर्षायोगनिष्ठापने कृते सति वीरनिर्वाणक्रिया कर्तव्येत्यर्थः। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।"
—अन० पृ० ६६९।

इसकी प्रयोग विधि

अथ वीरनिर्वाणक्रियायां ..... सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं इत्यादि प्रकार से निर्वाण क्रिया करके साधु और श्रावक नित्यवंदना (सामायिक) करते हैं।

पंचकल्याणक क्रिया

तीर्थंकर भगवान् का गर्भ कल्याणक और जन्म-कल्याणक जब हो तब साधु और श्रावक सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति पढ़कर क्रिया करते हैं। निष्क्रमण कल्याणक में सिद्ध चारित्र योग और शांति भक्ति करते हैं। केवलज्ञान कल्याणक में सिद्ध, श्रुत चारित्र योग और शांतिभक्ति तथा निर्वाणकल्याण में सिद्ध श्रुत चारित्र योग निर्वाण और शांतिभक्ति करते हैं।

निर्वाण कल्याण क्रिया में निर्वाण भक्ति पढ़ते समय तीन प्रदक्षिणा भी दी जाती है[१]।

प्रयोग विधि

'अथ वृषभस्वजिनगर्भकल्याणकक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।'

ऐसे ही सर्वत्र समझना।

तीर्थंकरों के गर्भ जन्म तप ज्ञान और निर्वाण कल्याण से पवित्र क्षेत्रों की वन्दना में भी उपयुक्त भक्तिपाठ बोलकर वंदना करते हैं। यथा—

अथ पार्श्वनाथजिननिर्वाणकल्याणक्षेत्रवंदनायां सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहं।' इत्यादि।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर में गर्भ जन्म आदि कल्याणकों के अवसर में भी उपयुक्त विधि से भक्तिपाठ करते हुए वंदना करते हैं।

ऋषि के शरीर की और निषद्या की क्रिया—मुनि मरण को प्राप्त हो जाय तो उनके शरीर की वन्दना करने में अथवा जहाँ पर उनका संस्कार किया जाता है उसे निषेधिका या निषद्या कहते हैं उसकी वंदना करने में भक्ति का विधान बताते हैं—

---

१ योगभक्त्या परीतिश्च परिनिष्क्रमणक्रिया। —आचारसार पृ २४०।

२ परिनिर्वाणभक्त्या तु त्रि परीत्य क्रिया भवेत्। —आचारसार पृ २४१।
दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनंदीश्वरेषु हि।
वंद्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा। —अन, प ६०७।

केशलोच क्रिया—साधु अपने सिर और दाढ़ी मूँछ के केशों को हाथ से उखाड़ते हैं इसी का नाम केशलोच है। यह उत्तम मध्यम और जघन्य ऐसे तीन भेद रूप हैं।

दो महीने से किया गया लोच उत्कृष्ट है तीन महीने से किया गया मध्यम और चार मास से किया गया जघन्य है। लोच के दिन उपवास करके साधु लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति करके मौनपूर्वक लोच करते हैं और अन्त मे लघुसिद्धभक्ति पूर्वक समाप्त कर देते हैं।

प्रयोग

अथ केशलोचप्रनिष्ठापनक्रियायां सिद्धभक्तिकायोत्सर्ग करोम्यहं।' इत्यादि समाप्ति मे 'प्रतिष्ठापन' के स्थान पर निष्ठापन शब्द बोलते हैं।

विशेष—सभी क्रियाओं के अन्त में हीनाधिक दोष की विशुद्धि के लिए समाधिभक्ति अवश्य की जाती है। कहा भी है—

हीनाधिक दोष की विशुद्धि के लिए सर्वत्र-सभी क्रियाओं की समाप्ति में प्रियभक्ति—समाधिभक्ति पढ़ी जाती है[1]।

योगी की वंदना क्रिया— प्रतिमायोगधारी सूर्य की तरफ मुख करके ध्यान करनेवाले ऐसे साधु योगी कहलाते हैं। भले ही वे दीक्षा में अपने से लघु हों फिर भी अन्य साधु उनकी वन्दना करते हैं। उसमें सिद्धभक्ति योगभक्ति और शांतिभक्ति द्वारा वंदना करते हैं[2]। योगभक्ति पढ़ते पढ़ते उन योगी की तीन प्रदक्षिणा भी देते हैं[3]।

■

---

१ ऊनाधिकविशुद्धयर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिका॥ —अनगार पृ ६६०।

२ लघीयसो प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम्।
कुर्युः सर्वेऽपि सिद्धर्षिशांतिभक्तिभिरादरात्॥८॥ —अनगार पृ ६७६।

३ दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि।
वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा॥
—अनगार० पृ० ६०७।

विनय शुद्धि—मन, वचन काय की शुद्धि पूर्वक अत्यंत विनय से श्रुत का पठन पाठन करना

उपधान शुद्धि—कुछ नियम लेकर अर्थात् जब तक यह ग्रंथ पूरा न हो तब तक मेरा दूध का त्याग है इत्यादि नियम लेकर पढना।

बहुमान शुद्धि—पूजा सत्कार पूर्वक पठन आदि करना।

अनिह्नव शुद्धि—जिस गुरु से शास्त्र पढा है उसका नाम प्रकाशित करना अथवा जिस ग्रन्थ से ज्ञान हुआ है उसको नही छिपाना।

व्यंजन शुद्धि—वर्ण, पद वाक्यों को शुद्ध पढना।

अर्थशुद्धि—पदों का अनेकांत रूप अर्थ करना।

तदुभय शुद्धि—शब्द और अर्थ को शुद्धिपूर्वक पढना।

इस प्रकार कालादि शुद्धि के भेद से ज्ञानाचार के भी आठ भेद होते हैं।

चारित्राचार—पाप क्रिया से निवृत्ति चारित्र है। उसके पांच भेद हैं—प्राणिवध, असत्य, चोरी अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापों का सर्वथा त्याग कर देना ये पांच चारित्राचार हैं।

पांच महाव्रतों की रक्षा के लिये रात्रिभोजन का भी त्याग किया जाता है। इसे छठा अणुव्रत भी कहते हैं[1]। अन्यत्र-साधुओं के प्रतिक्रमण में भी कहा है—'रात्रिभोजन से विरक्त होना छठा अणुव्रत है।'[2]

अथवा पांच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रकार का चारित्राचार है।

'चंपापुरी पावापुरी गिरनार आदि तीर्थयात्रा हेतु साधुओं के संयम निमित्त देव धर्म आदि के हेतु अथवा शास्त्रों को सुनने सुनाने के लिये अथवा प्रतिक्रमण आदि सुनने-सुनाने के लिये सूर्योदय हो जाने पर अपररात्रिक स्वाध्याय प्रतिक्रमण और देववन्दना करके प्रासुकमार्ग में चार हाथ आगे जमीन देखते हुए गमन करना ईर्यासमिति है'[3]।

क्योंकि साधु किसी भी लौकिक कार्य के लिए या स्वयं गमन नहीं करते

---

1 [illegible] —[illegible] १९०।

2 'छट्ठं अणुव्वयं राइभोयणाओ वेरमणं' —क्रियाकलाप।

3 [illegible]

[illegible]

[illegible]

सत्यव्रत की ५ भावना—क्रोध लोभ भय और हास्य का त्याग करना तथा अनुवीचि-सूत्र के अनुकूल वचन बोलना[1] ये पाच भावनायें सत्यव्रत की पूर्णता हेतु हैं।

अचौर्यव्रत की ५ भावना—किसी की वस्तु पुस्तक आदि को उनसे माग कर लना याचना है, किसी की वस्तु उनकी अनुमति से ग्रहण करना और परोक्ष में लने पर उन्हें कह देना, समनुज्ञापना है ग्रहण की हुई परवस्तु में आत्मभाव नहीं करना अनन्यभाव है त्यक्त प्रतिसेवा और सहधर्मी साधुओं के उपकरण-पुस्तक पिच्छी आदि सूत्रानुकूल सेवन करना इस प्रकार याचा समनुज्ञापना अनन्यभाव त्यक्त प्रतिसेवी और साधर्मी के उपकरण का अनुवीचि सेवन ये पाच भावनायें अचौर्यव्रत को पूर्ण करने वाली हैं।

ब्रह्मचर्यव्रत की ५ भावना—महिलाओं को कामविकार से देखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना, रागभाव के कारण भूत पदार्थों से संसक्त वसतिका में रहना अथवा असयमी लोगों के साथ रहना शृगारिक कथा—विकथा आदि करना बल और दर्प उत्पन्न करने वाले रसों का सेवन करना। ये पाच भावनायें ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण करने वाली हैं।

परिग्रहत्याग की ५ भावना—पच इन्द्रियों के प्रिय और अप्रिय विषय जो कि शब्द रस स्पर्श रूप और गध में परिग्रह रहित मुनि रागद्वेष नहीं करते हैं। इसलिये इन पाच भावनाओं से परिग्रहमहाव्रत पूर्ण होता है।

इन पचीस भावनाओं की भावना करने वाला साधु सोता हुआ भी अथवा मूर्छा को प्राप्त हुआ भी अपने सभी व्रतों में किंचित् मात्र भी पीडा—विराधना को नहीं करता है पुन सावधान रहते हुए—जाग्रत रहते हुए की बात ही क्या है ? वह साधु स्वप्न में भी इन भावनाओं को ही देखता है किंतु व्रतों की विराधना को नहीं देखता है[2]।'

तप आचार— 'जो शरीर और इन्द्रियों को तपाता है—दहन करता है वह तप है[3]।' यह कर्मों को दहन करने में समर्थ है। इसके दो भेद

---

१ अनुवीचिभाषण चव सूत्रानुसारेण भाषण। —मूला० टी० पृ २७४।

२ ण करदि भावणाभाविदो हु पीलं वदाण सव्वेसिं।
साधू पासुत्तो स मणागवि किं दाणि वेदंतो ॥१४५॥

३. तपति दहति शरीरेन्द्रियाणि तप बाह्याभ्यतरलक्षण कर्मदहनसमर्थं।
—मूला टी प १०२।

है—बाह्य और अभ्यंतर। इन दोनों के भी छह छह भेद होने से बारह भेद हो जाते हैं। इन बारह प्रकार के तपों का अनुष्ठान करना तप आचार है। इसका विस्तृत वर्णन आगे मुनियों के उत्तरगुणों में किया जावेगा।

वीर्याचार—अपने बल और वीर्य को न छिपा कर जो साधु यथोक्त आचरण में अर्थात् प्राणिसंयम-इन्द्रियसंयम के पालन और तपश्चरण में अपने आपको लगाते हैं। कायरता प्रगट न करके हमेशा चारित्र के आचरण में और तप में उत्साहित रहते हैं। यही वीर्याचार है।

इन पांच आचारों का पालन करना-कराना ही आचारवत्त्व है।

२ आधारवत्त्व—जिस श्रुतज्ञानरूपी संपत्ति की कोई तुलना नहीं कर सकता उसको अथवा नौ पूर्व दशपूर्व या चौदह पूर्व तक के श्रुतज्ञान का अथवा कल्पव्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते हैं।

३ व्यवहारपटुता—व्यवहार नाम प्रायश्चित्त का है वह पांच प्रकार का है। इसकी कुशलता ही व्यवहारपटुता है। जिन्होंने अनेक बार प्रायश्चित्त देते हुए देखा है स्वयं ग्रहण किया है दूसरों को दिलवाया है वे ही व्यवहारपटु हैं।

व्यवहार—प्रायश्चित्त के ५ भेद—आगम, श्रुत, आज्ञा धारणा और जीत।

ग्यारह अङ्गशास्त्रों में प्रायश्चित्त वर्णित है अथवा उनके आधार से जो प्रायश्चित्त लिया जाता है उसको आगम कहते हैं।

चौदहपूर्व में बनाये हुए या तदनुसार दिये हुए को श्रुत कहते हैं। कोई आचार्य समाधिमरण के लिये उद्यत हैं उनकी जंघा का बल घट गया—वे दूर तक विहार नहीं कर सकते वे आचार्य किसी योग्य आचार्य के पास अपने योग्य ज्येष्ठ शिष्य को भेज कर उसके द्वारा ही अपने दोषों की आलोचना कराकर प्रायश्चित्त मंगा कर ग्रहण करते हैं उसको आज्ञा कहते हैं।

कोई आचार्य उपर्युक्त स्थिति में हैं और उनके पास शिष्यादि भी नहीं हैं तो वे स्वयं अपने दोषों की आलोचना कर पहले से अवधारित (जाने हुए) प्रायश्चित्त का ग्रहण करते हैं वह धारणा प्रायश्चित्त है।

बहत्तर पुरुषों की अपेक्षा जो प्रायश्चित्त बताया जाता है उसको जीत कहते हैं।

इनमें निष्णात आचार्य व्यवहारपटु कहलाते हैं।

४ प्रकारकत्व—जो समाधिमरण कराने में या उनकी वैयावृत्य करने में कुशल हैं उन्हें परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं यह गुण प्रकारकत्व कहलाता है।

५. आयापायदर्शिता—आलोचना करने के लिये उद्यत हुए क्षपक (समाधिमरण करने वाले साधु) के गुण और दोषों को प्रकाशित करने को आयापायदर्शिता अथवा गुणदोषप्रवक्तृता कहते हैं।

६ उत्पीलन—कोई साधु या क्षपक यदि दोषों को पूर्णतया नहीं निकलता है तो उनके दोषों को युक्ति और बल से बाहर निकाल लेना उत्पीलन गुण है।

७ अपरिस्रवण—शिष्य के गोप्य दोष को सुनकर जो प्रकट नहीं करते हैं उनके अपरिस्रवण गुण होता है।

८ सुखावहन—क्षुधादि से पीडित साधु को उत्तम कथा आदि के द्वारा शान्त करके सुखी करते हैं वे सुखावह गुण के धारी हैं।

इस प्रकार इन आठ गुण के धारी आचार्य आचारी आधारी व्यवहारी प्रकारक आयापायदिक उत्पीडक अपरिस्रावी और सुखावह होते हैं।

स्थितिकल्प के दश भेद

आचेलक्य, औद्देशिकपिंडत्याग शय्याधरपिंडत्याग, राजकीयपिंड त्याग कृतिकर्म व्रतारोपण योग्यता, ज्येष्ठता प्रतिक्रमण मासैकवासिता और योग, इस प्रकार स्थितिकल्पगुण दश हैं।

१ आचेलक्य—वस्त्रादि सपूर्ण परिग्रह के अभाव को अथवा नग्नता को आचेलक्य कहते हैं। नग्न दिगबर साधु लगोटीमात्र को भी नहीं रखते हैं क्योंकि उसे धोना सुखाना सभालना फटने पर याचना करना आदि अनेक आकुलताएँ होती हैं जिससे ध्यान अध्ययन की पूर्णतया सिद्धि असभव है। तथा तीर्थकरों के आचरण का अनुसरण भी नग्नता से ही होता है।

२ औद्देशिकपिंड त्याग—जो मुनियों के उद्देश्य से तैयार किया गया है ऐसे भोजन पान आदि द्रव्य को ग्रहण नहीं करना औद्देशिक पिंड—आहार का त्याग गुण होता है।

८ प्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण के नाना भेदों को समझने वाले और विधिवत् करने कराने वाले आचार्य इस गुण के धारी होते हैं।

९. मासैकवासिता—जिनके तीन दिन रात्रि तक एक ही स्थान में या ग्राम में रहने का प्रम हो उनके यह मासैकवासिता गुण होता है। चूंकि अधिक दिन एक जगह रहने से उद्गम आदि क्षेत्र में ममता गौरव में कमी आलस शरीर में सुकुमारता, भावना का अभाव ज्ञातभिक्षा का ग्रहण आदि दोष होने लगते हैं।

मूलाराधना में इसका ऐसा अर्थ किया है कि चातुर्मास के एक महीने पहले और पीछे उसी ग्राम में रहना[1]।

१० योग—वर्षा काल में चार महीने एक जगह रहना। चूंकि वृष्टि के निमित्त से त्रस-स्थावर जीवों की बहुलता हो जाती है, इससे विहार में असंयम होगा, वृष्टि से ठंडी हवा चलने से आत्मविराधना—शरीर में कष्ट व्याधि मरण आदि आ जावेंगे। जल कीचड़ आदि के निमित्त गिर जाना आदि संभव है। इत्यादि कारणों से चातुर्मास में एक सौ बीस दिन तक एक ग्राम में रहना यह उत्सर्ग (उत्कृष्ट) मार्ग है। अपवाद मार्ग की अपेक्षा विशेष कारण उपस्थित होने पर अधिक अथवा कम दिन भी निवास किया जा सकता है। अधिक में आषाढ़ शुक्ला दशमी से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा के ऊपर तीस दिन तक निवास किया जा सकता है। अत्यधिक जलवृष्टि, श्रुत का विशेष लाभ शक्ति का अभाव और किसी की वैयावृत्ति आदि के विशेष प्रसंग आ जाने पर इन प्रयोजनों के उद्देश्य से एक स्थान में अधिक दिन निवास किया जा सकता है। यह उत्कृष्ट काल का प्रमाण है।

इस प्रकार से आचार्य के ये स्थितिकल्प नाम के दश गुण बताये हैं।

छह आवश्यकों का वर्णन हो चुका है। इस प्रकार आचारवत्त्वादि ८ + तपश्चरण १२ + स्थितिकल्प १० + और आवश्यक ६ = ३६ गुणों को पालन करने वाले आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

अन्यत्र अन्य प्रकार से भी बताये हैं। यथा— १२ तप, १० धर्म ५ आचार ६ आवश्यक और तीन गुप्ति ये आचार्य के ३६ गुण होते हैं[2]।

---

१ मासैकवासिता त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादौ वसति तद्व्रत तद्भाव।
—अन., पृ ६७४।

२ द्वादशतप दशधर्मजुत पालैं पचाचार।
षट आवश्यक त्रयगुप्ति गुण आचारज पदसार ॥१९॥
—इष्टछत्तीसी, बधजनकविकृत।

अर्थात् उपाध्याय परमेष्ठी केवल पठन पाठन में ही लगे रहते हैं। बाकी शिष्यों का संग्रह करना उन्हें दीक्षा देना प्रायश्चित्त देना उनका संरक्षण करना संघ की व्यवस्था संभालना आदि कार्य आचार्य के हैं सो ये नहीं करते हैं।

अन्यत्र उपाध्याय के मुख्य पचीस गुण माने हैं—

'ग्यारह अङ्ग और चौदह पूर्व को आप पढ़ते हैं और अन्य को पढ़ाते हैं। ये पचीस गुण उपाध्याय परमेष्ठी के होते हैं।[1]'

ग्यारह अंग—१ आचारांग २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग ४ समवायांग ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६ ज्ञातृकथांग ७ उपासकाध्ययनांग ८ अंतकृद्दशांग ९ अनुत्तरोपपादकदशांग १० प्रश्नव्याकरणांग ११ विपाकसूत्रांग।

चौदह पूर्व—१ उत्पादपूर्व २ अग्रायणीयपूर्व ३ वीर्यानुवादपूर्व ४ अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ५ ज्ञानप्रवादपूर्व ६ कर्मप्रवादपूर्व ७ सत्यप्रवादपूर्व ८ आत्मप्रवादपूर्व, ९ प्रत्याख्यानपूर्व १० विद्यानुवादपूर्व, ११ कल्याणवादपूर्व १२ प्राणावायपूर्व १३ क्रियाविशालपूर्व और १४ लोकबिंदुसारपूर्व।

आज इन अंगपूर्वों का ज्ञान न रहते हुए भी उनके कुछ अंशरूप षट्खंडागम कषायपाहुड आदि ग्रन्थ तथा उन्हीं की परम्परा से आगत समयसार, मूलाचार आदि ग्रन्थ विद्यमान हैं। तत्कालीन सभी ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने वाले भी उपाध्याय परमेष्ठी हो सकते हैं। धवला में 'तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा' इस पद से स्पष्ट किया है।

साधु परमेष्ठी

"जो अनंतज्ञानादिरूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं। जो पांच महाव्रतों को धारण करते हैं—तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं अठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं और चौरासी लाख उत्तरगुणों का पालन करते हैं वे साधु परमेष्ठी कहलाते हैं[2]।'

---

१ चौदह पूरब को धरैं ग्यारह अंग सुजान।
उपाध्याय पच्चीस गुण पढ़ें पढ़ावें ज्ञान ॥२५॥

२ अनंतज्ञानादि शुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः। पंचमहाव्रतधरास्त्रिगुप्तिगुप्ता अष्टादशशीलसहस्रधराश्चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः।'
—धवला प्र० पु० पृ० ५२।

मन, वचन काय को योग कहते हैं। अशुभ कर्म के ग्रहण में कारण भूत क्रियाओ के निग्रह को करण कहते हैं। निमित्त के भेद से इसके भी मन वचन और काय ये तीन भेद हैं। आहार भय मैथुन और परिग्रह ये चार सज्ञायें हैं। स्पर्श आदि पाच इंद्रियाँ हैं। पृथ्वी जल अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति साधारण वनस्पति द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ये दश जीव भेद हैं। क्षमा मार्दव आदि दश धर्म हैं।

इनके सिवाय शील के १८००० भेदो के और भी प्रकार हैं—

(१) विषयाभिलाषा आदि १० (विषयाभिलाषा वस्तिमोक्ष प्रणीत रससेवा, संसक्तद्रव्यसेवन शरीरांगोपांगावलोकन प्रेमी का सत्कार पुरस्कार शरीरसंस्कार अतीत भोगस्मरण अनागत भोगाकांक्षा इष्ट विषयसेवन।)

चिंता आदि १० (चिंता दर्शनेच्छा दीर्घनिःश्वास, ज्वर दाह आहारारुचि मूर्च्छा उन्माद जीवनसंदेह मरण।) इंद्रिय ५ योग ३ और कृत कारित अनुमोदना ये ३ जाग्रत और स्वप्न ये २ तथा चेतन और अचेतन ये २। सबको गुणित करने से १०×१०×५×३×३×२ ×२=१८००० भेद हो जाते है।

(२) स्त्री ३ (देवी मानुषी तिरश्ची) का योग ३ कृत कारित अनुमोदना ३ सज्ञायें ४ और इन्द्रिय १० (५ द्रव्येन्द्रिय ५ भावेंद्रिय) तथा १६ कषाय से गुणने पर १७२८० भेद होते हैं। इनमे अचेतन स्त्री सबधी ७२० भद जोडना। यथा अचेतन स्त्री के ३ भेद (काष्ठ पाषाण चित्र) योग २ (मन और काय) कृतादि ३ और कषाय ४ तथा इन्द्रिय भेद १० से गुणा करने पर ३×२×३×४×४×१०=७२० भेद होते हैं। १७२८ +७२०=१८०००।

(३) स्त्री ४×योग ३×कृतादि३×इन्द्रिय५×शृंगाररसभेद१०× और कायचेष्टा भेद १०=१८००० भेद हो जाते हैं।

ये सभी भेद अयोगी के पूर्ण माने गये हैं। यथा—जो शील के भेदो के स्वामी हो चुके हैं जिनके संपूर्ण आस्रव रुक चुका है जो कर्मरज से विप्रमुक्त हैं ऐसे काययोग से भी रहित अयोग केवली होते हैं।[२]

---

१ गोम्मटसार जीव पृ० ४८।

२ सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥६५॥

चौरासी लाख उत्तरगुण

हिंसादि २१ अतिक्रमादि ४ पृथ्वी आदि १००, अब्रह्म १०, आलोचना के दोष १० और प्रायश्चित्त के भेद १० इनको परस्पर गुणने से २१ × ४ × १०० × १० × १० × १० = ८४००००० उत्तरगुण होते हैं।

हिंसादि—२१—हिंसा असत्य अचौर्य अब्रह्म परिग्रह क्रोध मान, माया लोभ, रति अरति भय जुगुप्सा मनोमंगुल वचनमंगुल काय मंगुल, (पाप संचय करने वाली क्रिया मंगुल है) मिथ्यादर्शन, प्रमाद पैशून्य अज्ञान और अनिग्रह (इन्द्रियों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति)

अतिक्रम आदि ४—अतिक्रमण (विषयों की इच्छा) व्यतिक्रमण (विषयों के उपकरण मिलाना व विचार) अतिचार (व्रतों में शिथिलता आ जाना), अनाचार (व्रत भंग हो जाना)।

पृथ्वी आदि १००-पृथ्वी जल अग्नि वायु प्रत्येक वनस्पति अनंत कायिक वनस्पति द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इनको परस्पर में गुणित कर देने से १० × १० = १०० हो जाते हैं।

अब्रह्म १०—स्त्रीसंसर्ग प्रणीतरसभोजन, गंधमाल्यसंस्पर्श, शयनासन (कोमल शय्या आसन की अभिलाषा), गीतवादित्र अर्थसंप्रयोग (सुवर्णादि की अभिलाषा) कुशील संसर्ग राजसेवा (विषयों की आशा से राजा की सेवा) और रात्रिसंचरण ये १० शील विराधनायें हैं।

आलोचना के १० दोष—आकंपित अनुमानित दृष्ट बादर सूक्ष्म, छन्न शब्दाकुलित बहुजन अव्यक्त और तत्सेवी आलोचना के ये १० दोष हैं।

प्रायश्चित्त के १० भेद—आलोचना प्रतिक्रमण तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग तप छेद मूल, परिहार और श्रद्धान ये दोषों की शुद्धि के १० उपाय हैं। सबको परस्पर गुणन करने से ८४ ०००० उत्तर गुण होते हैं। इनकी पूर्ति भी चौदहवें गुणस्थान में ही होती है।

इस प्रकार से १० धर्म १२ तप २२ परीषहजय १८००० शील और ८४००००० गुण ये सभी उत्तरगुण कहलाते हैं।

विशेष—इन अठारह हजार शीलों की और चौरासी लाख उत्तर गुणों की पूर्ति अयोगकेवली नाम के चौदहवें गुणस्थान में ही होती है। उसके पहले निर्ग्रन्थ मुनि इनकी भावना भाते हुए इन्हीं की पूर्ति के लिए सारे पुरुषार्थ करते हैं। और जितने अंशों में पाल सकते हैं पालते हैं।

इसलिए इन शील और गुणों की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों के उनका भेद हो जाते हैं।

आराधना से भेद

जिसके द्वारा मोक्ष सुख के अर्थीजन सम्यग्दर्शन आदि की आराधित-सेवित करते है उसे आराधना कहते हैं। इसमें चार विषय ज्ञातव्य हैं—आराध्य, आराधक आराधना और उसका फल।

'रत्नत्रय आराध्य हैं विशुद्धात्मा भव्य आराधक है, उपाय आराधना है और उसका फल अभ्युदय तथा मोक्ष है'।[1]

आराधना के चार भेद हैं-दर्शनाराधना ज्ञानाराधना चारित्राराधना और तप आराधना।

शंका आदि दोषो से रहित और आठ अंग रूप निर्दोष सम्यक्त्व धारण करना दर्शनाराधना है।

अर्थ व्यजन की शुद्धि आदि आठ भेदो से युक्त ज्ञान का सेवन करना ज्ञानाराधना है।

तेरह प्रकार का चारित्र पालना चारित्राराधना है।

बारह प्रकार के तपो का विधिवत् पालन करना तप आराधना है। दर्शनाराधना में ज्ञानाराधना और चारित्राराधना में तप आराधना गर्भित हो जाने से संक्षेप में आराधनायें दो ही है। अथवा अतिसंक्षेप में चारित्राराधना ही एक आराधना है चूंकि सम्यक्त्व के बिना चारित्र अचारित्र है और ज्ञान भी मिथ्याज्ञान हो है और तप भी बालतप ही है अत सम्यक्चारित्र के सेवन से सभी आराधनायें आराधित हो जाती हैं। इसलिये आराधना एक भी मानी जाती है।[2]

भेदरूप से इन चार आराधनाओं की आराधना करने वाले भव्यजीव ससार के अनेक अभ्युदयों को प्राप्त कर क्रमश मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

विशेष—इन चार आराधनाओं में से प्रारभ की तीन आराधनायें तो प्राय सभी दिगबर मुनियों के पाई जाती हैं। किन्तु तप आराधना उत्तरगुणधारी मुनियों में ही खास कर विवक्षित है। अत इन आराधनाओं की अपेक्षा दिगबर मुनियों में भेद हो जाते हैं।

---

१ रत्नत्रयमाराध्य भव्यस्त्वाराधको विशुद्धात्मा।
आराधना ह्युपायस्तत्फलमभ्युदयमोक्षौ स्त ॥ —मूलाराधना पृ० ४।

२ अहवा चारित्ताराहणाए आराहियं हवइ सव्व।
आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा ॥८॥ —मूलाराधना।

मुनियों और आचार्यों में उत्तरगुण और श्रुत से भेद

मुनियों के सामान्यतया चार भेद और आचार्यों में भी सामान्य तया चार भेद किये जा सकते हैं।

प्रथम तो सामान्य मुनि होते हैं जो कि अपने मूलगुणों का पालन करते हैं। दूसरे मुनि वे हैं जो मूलगुणों के साथ उत्तरगुणों को भी पालन करते हैं। तीसरे मुनि वे हैं जो मूल गुणधारी हैं उत्तरगुणों से शून्य हैं किन्तु सिद्धांत के विशेष वेत्ता हैं और चौथे मुनि वे हैं जो मूल गुण तथा उत्तरगुणों का पालन करते हैं और सिद्धान्त के वेत्ता भी हैं।

ऐसे ही अट्ठाईस मूलगुण और आचार्य के छत्तीस गुणों को धारण करने वाले सामान्य आचार्य होते हैं। दूसरे आचार्य नाना प्रकार के उत्तरगुणों से अपने शरीर को कृश करने वाले भी हैं। तीसरे प्रकार के आचार्य उत्तरगुणधारी नहीं हैं किंतु सिद्धान्त के वेत्ता हैं और चौथे प्रकार के आचार्य मूलगुणों तथा उत्तरगुणों से सहित होते हुए सिद्धान्त के वेत्ता भी हैं।

विशेष—आजकल यद्यपि प्रथम भेद रूप मुनि और प्रथम भेदरूप आचार्य ही देखे जाते हैं। फिर भी कोई मुनि या आचार्य उत्तरगुणों को भी कुछ-कुछ अंशों में धारण करते हैं और कोई कोई तात्कालिक श्रुत ज्ञान के भी ममज्ञ होते हैं। इन भेदों की अपेक्षा भी दिगंबर मुनि-आचार्यों में भेद देखा जाता है।

■

३ ध्यान

'उत्तम संहनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति का रोकना ध्यान है जो अंतर्मुहूर्त काल तक होता है'[1]।

आदि के वज्रवृषभ नाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीनों संहनन उत्तम माने हैं। ये तीनों ही ध्यान के साधन हैं, किन्तु मोक्ष का साधन तो प्रथम संहनन ही है।

नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती होती है। उसे अन्य अशेष मुखों से—विषयों से लौटा कर एक अग्र—एक विषय में नियमित करना एकाग्रचिन्ता निरोध कहलाता है। यही ध्यान है यह उत्कृष्ट भी एक मुहूर्त के भीतर ही तक होता है चूंकि इसके बाद एकाग्र चिन्ता दुर्धर होती है। चिन्ता के निरोध—अभाव—रूप होने से यह ध्यान असत्—शून्यरूप नहीं है प्रत्युत निश्चल अग्नि की शिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है[2]।'

'जो एक चिन्ता का निरोध है वह तो ध्यान है और जो इससे भिन्न है वह भावना है। उसे विद्वान् लोग अनुप्रेक्षा अथवा अर्थ चिन्ता भी कहते हैं।'[3]

ध्यान के चार भेद हैं—आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल। यह ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का भी हो जाता है। पापास्रव का कारण भूत अप्रशस्त है और कर्म दहन की सामर्थ्य से युक्त ध्यान प्रशस्त है। अन्यत्र भी कहा है—

जिस ध्यान में मुनि रागरहित हो जावें वह प्रशस्त ध्यान है और वस्तु स्वरूप से अनभिज्ञ तथा राग द्वेष मोह से पीड़ित जीव की स्वाधीन

---

१ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥२७॥

—तत्त्वार्थसूत्र अ० ९।

२ [illegible]।

—सर्वार्थ०, ग० ।

३ एकचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानमभावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ॥१६॥

प्रवृत्ति अप्रशस्त ध्यान है। यह बिना उपदेश के ही होता है क्योंकि यह अनादि वासना है।[1]

"धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के लिये कारण हैं और आर्त रौद्र ध्यान संसार के लिए कारण हैं[2]।"

आर्तध्यान—ऋत अर्थात् दुःख, अथवा अर्दनमर्ति अर्थात् पीड़ा है। इसमें होने वाला ध्यान आर्तध्यान है। इसके चार भेद हैं—

विष कंटक शत्रु आदि अप्रिय पदार्थ अमनोज्ञ हैं। उनका संयोग होने पर मैं क्या उपाय करूँ कि जिससे यह मुझ से दूर हो जावें ऐसा बार बार चिंतन करना अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान है।

स्वपुत्र धन स्त्री आदि मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है।

शरीर में वेदना के होने से उसके दूर करने हेतु बार-बार विचार करना तृतीय वेदनाजन्य आर्तध्यान है।

आगामी विषयों की प्राप्ति हेतु मन का उपयोग लगाना—चिन्ता करना सो निदान आर्तध्यान है।

यह आर्तध्यान पहले गुणस्थान से लेकर छठे तक हो सकता है। छठे में मात्र निदान आर्तध्यान नहीं है। बाकी तीन आर्तध्यान प्रमाद के उद्रेक से कदाचित् हो सकते हैं।[3]"

रौद्रध्यान—रुद्र अर्थात् क्रूर आशय इसका जो कर्म है अथवा क्रूराशय से होता है वह रौद्रध्यान है। उसके भी चार भेद हैं—असत्य चोरी और विषय संरक्षण के[3] लिए सतत चिन्तन करना। प्रकार से इन चार के आश्रय से चार भेद रूप रौद्रध्यान है। गुणस्थान से लेकर देशविरत गुणस्थान तक होता है।

देशविरत के रौद्रध्यान कैसे हो सकता है?[4]

हिंसादि के आवेश से या धन आदि के संरक्षण की कदाचित् देशव्रती के भी हो सकता है। किन्तु सम्यग्दर्शन

१ ज्ञानार्णव पृ० २४४।

२ परे मोक्षहेतू ॥२९॥

३ प्रमत्तसंयतानां तु निदानवर्ज्यमन्यदार्तत्रयं प्रमादोदयोद्रेकात्

४ देशविरतस्य कथं? तस्यापि [illegible]

चिद्भवितुमर्हति। तस्य पुनर्नारकादीनामकारणं

उसका यह ध्यान नरक आदि दुर्गतियो का कारण नहीं है।

धर्म्य ध्यान

धर्म से युक्त ध्यान धर्म्य ध्यान है। इसके भी चार भेद हैं—आज्ञा अपाय विपाक और सस्थान। इनकी विचारणा के निमित्त मन को एकाग्र करना धर्म ध्यान है।

उपदेश देने वाले का अभाव होने से स्वयं मदबुद्धि होने से, कर्मों का उदय होने से और पदार्थों के सूक्ष्म होने से इत्यादि कारणों से सवज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मान करके यह इसी प्रकार है क्योकि जिन अन्यथावादी नही होते ऐसा गहन पदार्थो का भी श्रद्धान द्वारा अर्थ निश्चित करना आज्ञाविचय धर्म्य ध्यान है। अथवा स्वय पदार्थों के रहस्य को जानता है और जो दूसरों को उसका प्रतिपादन करना चाहता है इसलिए जो स्व सिद्धात का समथन चिंतवन आदि है वह सभी आज्ञा विचय है।

मिथ्यादृष्टी जीव सवज्ञ प्रणीत माग से विमुख हो रहे हैं उन्हें सन्माग का ज्ञान न होने से मोक्षार्थी पुरुषो को दूर से ही त्याग देते हैं। अथवा ये प्राणी मिथ्याज्ञान आदि से कैसे दूर हों ऐसा निरतर चितन करना अपायविचय धर्म्य ध्यान है।

ज्ञानावरण आदि कर्मों के उदय से होने वाले फल के अनुभव का बार-बार चितन करना विपाक विचय धर्म्यध्यान है।

लोक के आकार और स्वभाव का निरतर चितवन करना सस्थान विचय धर्म्य ध्यान है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा आदि दस धर्मों से सहित ध्यान धर्म्य ध्यान है। यह अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर सातवें गुणस्थान तक होता है।

श्री वीरसेन स्वामी ने धवला मे धर्म्य ध्यान को दसवें गुणस्थान तक भी माना है।

अन्यत्र ग्रन्थों म सस्थान विचय धर्म्य के पिंडस्थ पदस्थ आदि चार भेद किये हैं जो कि मन को बाह्य प्रपचो से हटाने के लिए बहुत ही सहायक होते हैं।

इसमें आचार्य ने सबसे पहले ध्याता का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो सर्वारंभ परिग्रह से रहित मुनि हैं वे ही इन्द्रिय और मन पर

पूर्ण विजय प्राप्त कर सकते हैं। अन्य नहीं। गृहस्थी बेचारे नित्य ही सर्वारंभ में फंसे हुए होने से ध्यान के अधिकारी नहीं हैं। यथा— कदाचित् आकाश के पुष्प और गधे के सींग हो सकते हैं परन्तु किसी भी देश या काल में गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है[१]।

इस हेतु से मुख्यतया मुनियों के लिए ध्यान सिद्धि का उपाय बतलाते हुए पहले आचार्य ने मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओं के आश्रय लेने को कहा है पुनः और अध्यात्म भावनाओं के भाने का उपदेश दिया है।

ध्यान के योग्य स्थानादि

स्थान—ध्यान के लिये बाधक स्थानों को छोड़कर उत्तम स्थानों के आश्रय लेने का उपदेश दिया है। सिद्धक्षेत्र महातीर्थों पर पुराणपुरुष तीर्थंकर आदि के जहाँ गर्भ जन्म आदि कल्याणक हुए हैं ऐसे जो पवित्र पुण्य स्थान हैं। अथवा समुद्र के किनारे वन में पर्वत की चोटी पर इत्यादि निर्जन स्थानों में ध्यान की सिद्धि होती है। सिद्धकूट तथा कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयों में महाऋद्धि के धारक महाधीर वीर संयमी सिद्धि की वांछा करते हैं। अभिप्राय यही है कि जहाँ उपयोग स्थिर हो सके और परिणाम राग द्वेष से विक्षिप्त नहीं होवें वही स्थान योग्य है।[२]

आसन— समाधि ध्यान की सिद्धि के लिए काष्ठ के पट्टे पर, शिला पर अथवा भूमि पर वा बालू रेत में भले प्रकार स्थिर आसन लगाना चाहिये।[३]

पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यंक आसन वज्रासन वीरासन सुखासन,

---

१ खपुष्पमथवा शृंगं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देशकालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे ॥१७॥ —ज्ञानार्णव, पृ० ६७।

२ सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।
कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥१॥
सागरान्ते वनान्ते वा शैलशृंगान्तरेऽथवा।
स्थानं जायत्यविभ्रान्तं यमी जन्मार्तिशान्तये ॥७॥

३ दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
—समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात् सुस्थिरासनम् ॥ —ज्ञानार्णव पृ० २६४।

कमगासन और कायोत्सग ये ध्यान के योग्य आसन होते हैं। जिस आसन पर मुनि सुखपूर्वक मन को निश्चल कर सके वही आसन श्रेयस्कर है। वज्रवृषभ नाराच संहनन काय वाले मुनि भयंकर से भयंकर उपसर्गों के आजाने पर भी ध्यान से स्खलित नहीं होते हैं। हीन संहनन वालों को भी आसन स्थिर करने का अभ्यास करते हुए परीषह उपसर्गों को जीतने का अभ्यास करना चाहिये।

स्वामी—'इस धर्म ध्यान के स्वामी मुख्य रूप से अप्रमत्त मुनि सप्तम गुणस्थानवर्ती ही हैं और उपचार से प्रमत्तमुनि-छठें गुणस्थानवर्ती मुनि हैं। जो अप्रमत्तमुनि उत्तम संस्थान और उत्तम संहनन सहित जितेंद्रिय स्थिर पूर्ववेदी—द्वादशांग के वेत्ता सबरवान् और धीर हैं वे ही संपूर्ण लक्षण से समन्वित ध्यान के अधिकारी हैं।

अथवा चौदहपूर्वों के ज्ञान से रहित भी श्रुतज्ञानी श्रेणी के नीचे सातवें गुणस्थान तक ध्यान के स्वामी होते हैं।

किन्हीं आचार्यों ने धर्म ध्यान के चार स्वामी भी माने हैं—अविरत-सम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत्तविरत और अप्रमत्त विरत। अर्थात् उत्तम मध्यम और जघन्य की अपेक्षा से ये चारों गुणस्थान वाले भी धर्म ध्यान के करने वाले होते हैं।[1]

धर्म ध्यान के चतुर्थ भेद—संस्थान विचय के पिंडस्थ पदस्थ रूपस्थ और रूपातीत ये चार भेद माने गये हैं।[2]

पिंडस्थ ध्यान—पिंडस्थ ध्यान में पार्थिवी आग्नेयी श्वसना वारुणी और तत्त्वरूपवता ऐसी पांच धारणायें होती हैं।

---

१ मुख्योपचारभेदेन द्वौ मनिस्वामिनौ मतौ।
अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम् ॥२५॥
अप्रमत्त सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिर।
पूर्ववित्संवृतो धीरो ध्याता संपूर्णलक्षण ॥२६॥
श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तित।
अध श्रेण्या प्रवृत्तात्मा धर्मध्यानस्य सुश्रुत ॥२७॥
किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वार स्वामिन स्मृता।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना ॥२८॥
—ज्ञाना, प २६७।

२ ज्ञानार्णव प ३६१ से।

म प्रसिद्ध वर्णमातृका का ध्यान करना चाहिये। चूँकि यह सम्पूर्ण वाङमय की जन्मभूमि है।

वर्णमातृका ध्यान

ध्याता मुनि नाभिमडल म स्थित सोलह दल वाले कमल की पाखुडिया पर क्रमश अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन सोलह स्वरा का चिन्तवन करे। पुन अपने हृदय स्थान मे कर्णिका सहित चौबीस पाखुडी के कमल पर कर्णिका तथा पत्रा म क्रमश क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म इन पच्चीस अक्षरा का ध्यान करे। अनन्तर आठ पत्रा से विभूषित मुख कमल के प्रत्येक पत्र पर भ्रमण करते हुए य र ल व श ष स ह इन आठ वर्णों का ध्यान करे।

इस प्रकार इन ४९ वर्ण मातृकाओ का ध्यान करने वाला साधु श्रुत समुद्र का पारगामी हो जाता है तथा क्षयरोग अग्निमदता, कुष्ठ उदर रोग काम, श्वास आदि रोगा को जीत लेता है और वचनसिद्धि पूज्यता आदि गुणा का पुञ्ज हो जाता ह।

मन्त्रराज का ध्यान— ऊर्ध्वाधोरयुत सबिन्दु सपर ऐसा मन्त्र र्हं है उसका ध्यान करते हैं। इसका कैसा ध्यान करे—

सुवर्णमय कमल की कर्णिका पर विराजमान मल-कलक रहित पूर्ण चन्द्रमा की किरणा क समान उज्ज्वल आकाश मे गमन करते हुए तथा दिशाआ म व्याप्त होते हुए इस मन्त्र का ध्यान करे। कितने लोग इस मन्त्र को ही ब्रह्मा विष्णु महेश्वर और बुद्ध कहते हैं। वास्तव म जिनेन्द्र भगवान् ही माना म त्रमूर्ति का धारण करके साक्षात् विराजमान हैं। धयवान् योगी कुम्भक प्राणायाम से इस म त्रराज को भौंह की लताआ में स्फुरायमान होता हुआ मुख कमल म प्रवेश करता हुआ तालु के छिद्र म गमन करता हुआ अमृतमय जल स झरता हुआ नत्र की पलका पर स्फुरायमान होता हुआ केशा म स्थिति करता तथा ज्योतिषिया क समूह म भ्रमता हुआ चन्द्रमा क साथ स्पर्द्धा करता हुआ, दिशाआ म संचरता हुआ आकाश म उछलता हुआ कलक समूह का छेदता हुआ ससार के भ्रम को दूर करता हुआ तथा मोक्ष स्थान का प्राप्त करता हुआ और मोक्षलक्ष्मी से मिलाप करता हुआ ऐसा इस ध्यावें।

इस मन्त्राधिप के ध्यान में इतना तल्लीन हो जावे कि स्वप्न म भी

इस मन्त्र से च्युत न हो। ध्याता मुनि नासिका के अग्रभाग म अथवा भौंहो क मध्य में इसको निश्चल करे।

इस मन्त्रराज क ध्यान से अणिमा आदि सब ऋद्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। देवादि भी सेवा करने लगते हैं।

प्रणव मन्त्र का ध्यान

'ॐ' मन्त्र को चन्द्रमा क समान श्वेत वर्ण का चिन्तवन करे। यह पचपरमेष्ठी वाचक महामन्त्र समस्त दुःख रूपी अग्नि को शान्त करने में मेघ क समान है। इसको हृदय कमल की कर्णिका म अथवा ललाट आदि म स्थापित करके ध्याव।

अन्य मन्त्रों का ध्यान

आठ पत्रो क कमल की कर्णिका पर णमो अरहंताण पुन दिशाओ म क्रम स णमो सिद्धाण णमो आइरियाण णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्वसाहूण ये चार मन्त्र और विदिशाओ क चार पत्रो पर सम्यग्दर्शनाय नम सम्यग्ज्ञानाय नम सम्यक्चारित्राय नम सम्यक्तपस नम इन चार मन्त्र पत्रो का चिन्तवन करे। इस प्रकार अष्टदल कमल और कर्णिका म नव मन्त्रो को स्थापित कर ध्यान करे।

इस मन्त्र के प्रभाव स योगीश्वर अनन्त क्लेश स छूटकर अनन्त सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

हे मुने ! तुम मन्त्र पदो क स्वामी और मुक्तिमार्ग के प्रकाशक ऐसे 'अ' अक्षर को नाभिकमल म 'सि' अक्षर को मस्तक कमल पर 'आ' अक्षर का कठस्थ कमल म, 'उ' अक्षर को हृदय कमल पर और 'सा' अक्षर का मुखस्थ कमल पर ऐसे 'असि आ उसा' इन पाँच अक्षरो को पाँच स्थानो म चिन्तवन करो।

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम इस षोडश अक्षर वाली महाविद्या का जा दो सौ बार जप करता है वह नहीं चाहते हुए भी एक उपवास क फल को प्राप्त कर लेता है। ऐसे ही अरहन्त सिद्ध इस पट् अक्षरी मन्त्र का तीन सौ बार जप करने स, 'अरहत' इस चार अक्षर वाले मन्त्र का चार सौ बार जप करने से योगी एक उपवास के फल को प्राप्त कर लेता है।

'सिद्ध' यह दो अक्षर का मन्त्र समस्त द्वादशाग रूप श्रुतस्कध का सार है। जो मुनि 'अ' इस एक अक्षरी मन्त्र को पाँच सौ बार जपता है वह एक उपवास क फल को प्राप्त कर लेता है। जो यह उपवास के फल

परमात्मा के गुणो से पूर्णरूप अपने आत्मा को करके फिर उसे परमात्मा मे योजित करे। क्योंकि मेरी आत्मा और परमात्मा म शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा से समानता है अर्थात् मेरी आत्मा भी शक्ति रूप से परमात्मा के समान ही है। 'ऐसा अपने आपको परमात्मा में तन्मय करके एकमेक हो जावे, पुन पृथकपने का भान ही न रहे। यह रूपातीत ध्यान है'[१]।"

शुक्ल ध्यान

जिसमे शुचिगुण का सम्बन्ध है वह शुक्लध्यान है। यह श्रेणी चढने के पहले अर्थात् सातवें गुणस्थान तक नही होता है। इसके भी चार भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरत क्रियानिवर्ति। आदि के दो ध्यान पूर्वविद्—श्रुतकेवली के होते है और अत के दो ध्यान केवली के होते हैं। तीनो योग वाले क पहला ध्यान तीनो म से किसी एक योग वाले के दूसरा ध्यान काययोग वाले सयोग केवली के ही तीसरा और योगरहित अयोगकेवली के ही चौथा ध्यान होता है। गुप्ति समिति आदि उपायो से युक्त मुनि जो कि भली प्रकार से परिक्रम करने वाले हैं वे ही ससार का नाश करने के लिए पूर्वोक्त चार प्रकार के धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान का करने मे समर्थ होते हैं।

पृथक्त्व वितर्क—जिसमे पृथक्-पृथक रूप से श्रुतज्ञान बदलता रहता है अर्थात् अर्थ, व्यजन और योगो का सक्रमण होता रहता है वह पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यान है।

परिणामो की विशुद्धि से बढता हुआ साधु मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशम अथवा क्षय करता हुआ इस ध्यान को करता है।

एकत्ववितर्क—पुन समूलचूल मोहनीय को नाश करने की इच्छा करता हुआ साधु अनन्तगुणी विशुद्धि के बल से अर्थ व्यंजन योगो की सक्रान्ति से रहित होता हुआ निश्चल मन वाला वह इस एकत्ववितर्क ध्यान के बल से घातिया कर्मरूपी इधन को भस्मसात् कर देता है।

तब तत्क्षण केवलज्ञानरूपी सूर्य प्रगट हो जाता है। वे केवली भगवान् इन्द्र द्वारा रचित समवसरण म विराजमान हो जाते हैं। इस पृथ्वी तल से पाँच हजार धनुष ऊपर चले जाते हैं और आकाश मे अधर स्थित रहते हैं अर्थात् समवसरण में कमलासन से भी चार अगुल अधर विराज

१ पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्य परमात्मनि।
प्राप्नोति स मुनि साक्षाद् यथा यत्व न बुध्यते ॥३॥—ज्ञानार्णव पृ०
९

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इस ध्यान के ... प्रकार के कर्मों के ... आत्म प्रदेश ... क्रिया का अभाव हो जाने से इस व्युपरतक्रिया निवर्ति ध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगकेवली के होता है। इस समय भगवान् ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा संपूर्ण कर्म ईंधन को जला कर निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते हैं। इस गुणस्थान का काल अ इ उ ऋ लृ इन पाँच ह्रस्वाक्षरों के उच्चारण के काल मात्र ही है। पुनः कर्म बंधन से छूटे हुए सिद्ध भगवान् एक समय ही लोकशिखर के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाते हैं। चूँकि आगे अलोक में धर्मास्तिकाय[1] का अभाव होने से वे आगे नहीं जा सकते हैं। ये सिद्ध परमेष्ठी निरंजन परमात्मा अनन्तानन्त काल तक अपने आत्म गुणों का उपभोग करते हुए परमानन्दमय परमतृप्त रहते हैं। फिर वापस[2] संसार में कभी भी नहीं आते हैं।

विशेष—वर्तमान में उत्तम संहनन नहीं होने से शुक्लध्यान नहीं हो सकता है। धर्मध्यान ही होता है। उसमें भी अनेक भेद होने से धर्मध्यानी दिगम्बर मुनियों में भी अनेक भेद हो जाते हैं। तथा धर्म शुक्ल की अपेक्षा भी इसमें अनेक भेद माने जाते हैं।

■

---

१ धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥—तत्त्वार्थसूत्र अ० १०

२ काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसंभ्रांतिकरणपटुः ॥—रत्नकरण्ड श्राव०

४ सल्लेखना

मनुष्य आदि पर्याय का नाश होना मरण है। इस मरण के पाँच भेद हैं—पंडितपंडितमरण पंडितमरण बालपंडितमरण बालमरण और बालबालमरण।

पंडितपंडितमरण—क्षीणकषाय केवली भगवान् पंडितपंडितमरण से मरण करते हैं अर्थात् केवली भगवान् अयोगी होकर इस मनुष्य पर्याय से छूट कर कर्मों से ही छूट जाते हैं पुन भव धारण नही करते हैं।

पंडितमरण—छठे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त रहने वाले जीवो का जो सल्लेखना मरण है वह पंडितमरण है।

बालपंडितमरण—विरताविरत-देश सयत के मरण को बालपंडित मरण कहते हैं।

बालमरण—अविरत सम्यग्दृष्टि का मरण बालमरण है।

बालबालमरण—मिथ्यादृष्टि जीवो का मरण अपघात आदि करके मरण सब बालबालमरण हैं। क्योंकि ये जीव बार बार मरण करते ही रहते हैं।

पंडितमरण के तीन भेद हैं—प्रायोपगमन इंगिनी और भक्तप्रतिज्ञा। अपने पाँवो द्वारा सघ से निकल कर और योग्य प्रदेश म जाकर जो मरण किया जाता है वह पादोपगमन है। अथवा इसका प्रायोपगमन भी नाम है। इसमे स्व और पर के द्वारा वैयावृत्ति की अपेक्षा नही रहती है। जिस मरण में अपने आप तो वैयावृत्ति कर सकें किन्तु पर के द्वारा वैयावृत्ति न करावें वह इंगिनी मरण है। इस पचम काल मे इन दो मरण के योग्य सहनन का अभाव है अत भक्तप्रत्याख्यान मरण ही होता है। भक्त—आहार की प्रतिज्ञा—त्याग करना भक्तप्रत्याख्यान [illegible] है। सविचार भक्तप्रत्याख्यान के तीन भेद है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। जघन्य काल अन्तमुहूर्त प्रमाण है और उत्कृष्ट बारह [illegible] है। अन्तमुहूर्त से लेकर बारह वर्ष के भीतर तक मध्यम [illegible] है।

---

१ पायोपगमणमरण भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविह पंडियमरण साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥ [illegible]
अप्पोवयारवज्ज परोवयारूणमिंगिणीमरण।
सपरोवयारहीण मरण पाओवगमण [illegible] ॥
भत्तपइण्णाइविहि जहण्णमज्झमुक्कस्स [illegible] ॥
बारसवरिसा जेट्ठा तम्मज्झे होदि [illegible]।

भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद हैं—सविचार और अविचार। जो साधु या गृहस्थ उत्साह और उद्युक्त हैं जिनका कुछ काल के अनन्तर मरण होगा उनके सविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण होता है। इसके विपरीत अकस्मात् मरण के आ जाने पर पराक्रम रहित साधु का मरण अविचार भक्तप्रत्याख्यान है।

उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यान मरण करने की इच्छा करने वाले मुनि ज्योतिषशास्त्र अथवा निमित्तशास्त्र से या अन्य किसी भी उपायों से अपनी आयु का निर्णय कर लेते हैं कि हमारी आयु बारह वर्ष प्रमाण रह गयी है अथवा इससे कम रह गई है क्योंकि बारह वर्ष से अधिक आयु रहने पर सल्लेखना का नियम नहीं कर सकते हैं[1]।

आचार्य भक्तप्रत्याख्यान मरण के इच्छुक होते हुए अपनी आयु का निर्णय करके बारह वर्ष की उत्कृष्ट सल्लेखना ग्रहण कर लेते हैं।

ये मुनिराज बारह वर्षों में से प्रारम्भ के चार वर्ष तो नाना प्रकार के अनशन, अवमौदर्य सर्वतोभद्र, एकावली, द्विकावली रत्नावली सिंह निष्क्रीडित आदि तपों का अनुष्ठान करते हुए पूर्ण करते हैं। आगे के चार वर्ष रस परित्याग नामक तप से पूर्ण करते हैं। पुनः दो वर्ष तक कभी अल्प आहार कभी नीरस आहार करते हुए बिताते हैं। अनन्तर एक वर्ष तक अल्प आहार लेते हुए पूर्ण करते हैं। आगे छह महीने तक अनुत्कृष्ट तप करते हुए बारह वर्ष पूर्ण कर देते हैं।

सल्लेखना करने वाले आचार्य अपने संघ के समस्त भार को अपने योग्य शिष्य पर डालकर अर्थात् उसे आचार्य बनाकर सारी व्यवस्था संभाल कर आप सल्लेखना कराने में कुशल ऐसे आचार्य की अन्वेषणा करते हैं क्योंकि अपने संघ में रहने से शिष्यों के प्रति स्नेह भाव अथवा आज्ञा उल्लंघन से कषायभाव होना स्वाभाविक है।

अन्य संघ में पहुँच कर आचार्य इस संघ के आचार्य को अपना अभिप्राय प्रगट करते हैं। यह संघ भी आगन्तुक साधु को बड़ी भक्ति और वात्सल्य से आश्रय देते हैं। जो सल्लेखना कराने वाले आचार्य होते

---

१ ज्योतिःशास्त्रविनूतजातकमतान्नानानिमित्तेक्षणात् ।
प्रश्नाच्चायचयप्रहार्वलिबलक्षीणत्वसप्रेक्षणात् ॥
प्रश्नस्याक्षरलक्षणक्षणवशात्कालागमास्वायुषो ।
मानं द्वादशवर्षसम्मितमतो हीनं च निश्चित्य स ॥३॥

—आचारसार पृ० २५७

हैं उन्हें निर्यापक आचाय कहते हैं और सल्लखना कराने वाले आचाय या साधु को क्षपक कहते हैं।

निर्यापकाचार्य क्षपक के लिए सल्लखना योग्य क्षत्र को देखकर वसनिका को भी आगम के अनुकूल देखकर वहाँ सल्लखना ग्रहण कराते हैं। लकडी का पाटा घास (चटाई) या पाषाण की शिला आदि को संस्तर कहते हैं। क्षपक के योग्य संस्तर बनाकर शुभमहूत मे आचार्य विधिवत् क्षपक का सस्तर ग्रहण कराते हैं। अर्थात् बारह वर्ष की सल्लखना में से जब एक माह पन्द्रह दिन आदि काल लगभग शेष रह जाता है तब संस्तर ग्रहण कराकर सल्लखना कराई जाती है।

एक मुनि की सल्लेखना के समय अडतालीस[1] मुनियों की आव श्यकता होती है जो कि ग्लानि और प्रमादरहित वात्सल्यभाव से क्षपक मुनि की शुश्रूषा करते हैं। हाथ पैर दबाना चलते समय सहारा देना सस्तर पर लेटते समय सहारा देना, करवट बदलना आदि वयावृत्ति करते हैं।

नवीन आचाय के पास ये आचाय या मुनि अपने दोषा की सम्पूण आलोचना करके यथोचित प्रायश्चित्त ग्रहण करते हैं। यदि सर्वोत्कृष्ट गुण विशिष्ट आचाय न मिलें तो उपाध्याय मुनि निर्यापक बनते हैं। यदि वे भी न हो तो प्रवतक मुनि अथवा अनुभवी वृद्ध मुनि या बाल आचाय यत्न से व्रतों म प्रवृत्ति करते हुए निर्यापक आचाय बन सकते हैं। जो ज्ञान से अल्प हैं परन्तु सघ की मर्यादा के ज्ञाता मुनि प्रवतक हैं और चिरदीक्षित मुनि साधु हैं ये भी सल्लखना करा सकते हैं।

वर्षाकाल में नाना प्रकार के तपो का अनुष्ठान करके सुख से जिसम उपवास आदि किये जा सकते हो ऐसे हेमत[2] ऋतु में संस्तर का आश्रय लेता है।

ये अडतालीस यति क्या-क्या उपकार करत हैं ?

चार मुनि क्षपक को उठाना बिठाना आदि सेवा का काम संयम म बाधा न आवे इस प्रकार स करते हैं।

---

१ कप्पाकप्प कुसला समाधिकरणु जदा सुदरहस्सा।
गीदत्था भयवता अडतालीस तु णिज्जवया ॥६४८॥

२ एवं वासात्ते फासदूण विविध तवोकम्मं।
सथारं पडिवज्जदि हमन्त सुहविहारम्मि ॥६३१॥

मूलारा० पृ० ८३२

चार मुनि क्षपक को धर्म श्रवण कराते हैं।

चार मुनि आचारांग के अनुकूल आहार को प्राप्त कराते हैं।

चार मुनि क्षपक के लिए आहार से पेय पदार्थों की व्यवस्था करते हैं।

चार मुनि लिवाकर लाये हुए आहार की वस्तुओं की देखभाल करते हैं।

चार मुनि क्षपक के मलमूत्रादि विसर्जन वसतिका, उपकरण, संस्तर आदि को स्वच्छ करते हैं।

चार मुनि क्षपक की वसतिका के द्वारों पर प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हैं। अर्थात् असंयत आदि अपात्र जनों को अन्दर आने से रोकते हैं।

चार मुनि उपदेश मंडप के द्वार के रक्षण का भार लेते हैं।

निद्रा विजयी चार मुनि क्षपक के पास रात्रि में जागरण करते हैं।

चार मुनि जहाँ संघ ठहरा है उसके आस-पास के शुभाशुभ वातावरण का निरीक्षण करते हैं।

चार मुनि आये हुए दर्शनार्थियों को सभा में उपदेश सुनाते हैं।

चार मुनि धर्म कथा कहने वाले मुनियों की सभा की रक्षा का भार लेते हैं[1]।

ऐसे ये अड़तालीस मुनि क्षपक की सल्लेखना में पूर्णतया सहयोग देते हैं। आचार्य कहते हैं कि भरत आदि क्षेत्र में यदि इतने मुनि कदाचित् नहीं हों तो चवालीस, चालीस आदि चार चार कमती करते हुए कम-से कम चार मुनि तो अवश्य ही होने चाहिये। 'कदाचित् चार मुनि भी न मिल सकें तो दो मुनि अवश्य ही होना चाहिये क्योंकि एक निर्यापक का विधान आगम में नहीं है। बल्कि एक निर्यापक से असमाधि आदि अनेक हानि हो जाती हैं[2]।

---

१ गाथा ६४९ से ६७२।

२ णिज्जावया य दोण्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा।
एक्को णिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥६७३॥
एगो जइ णिज्जवओ अप्पा चत्तो परो पवयणं च।
वसणमसमाधिमरणं उड्डाहो दुग्गदी चावि ॥६७४॥

—मूलारा० पृ० ८६४

'कोई मुनि समाधिमरण कर रहे हैं ऐसा सुनकर अन्य सघ के साधु भी बडी भक्ति से उन क्षपक के दर्शन हेतु आते हैं। यदि अन्य साधु नही आते हैं तो समझना चाहिये कि उनकी उत्तमार्थ मरण में भक्ति नही है और जिनकी उत्तमार्थ मरण म भक्ति नही है वे साधु मरणकाल मे सल्लेखना को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अर्थात् अपना समाधिमरण करने हेतु साधुओ को समाधि को बार-बार देखना चाहिये कराना चाहिये और उनके दर्शन करके समाधिमरण विधि सीखना चाहिये। क्योंकि यदि एक भव मे भी समाधिमरण मिल जाता है तो वह जीव सात-आठ भव म ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है इससे अधिक संसार मे भ्रमण नही करता है'[1]।

चातुर्मास के प्रसग मे साधु बारह योजन (९६ मील) तक सल्लेखना कराने हेतु या क्षपक के दर्शन हेतु जा सकते हैं ऐसी आगम की आज्ञा है। यथा—वर्षाऋतु म देव और आवसथ सम्बन्धी कोई बडा कार्य तथा शीतकाल में और ग्रीष्मकाल मे छोटा कार्य आ उपस्थित हुआ हो तो उस कार्य के निमित्त बारह योजन तक कोई साधु चला जाय तो वह दोषी नहीं है बारह योजन से ऊपर गमन करने वाला प्रायश्चित्त को प्राप्त होता है[2]।

क्षपक के पास में अधिक बोलने वाले आगमविरुद्धभाषी या विकथा आदि करने वाले साधु तथा श्रावक नही जा सकते हैं। व्यवस्था करने वाले साधु उन्हे बाहर ही रोक देते हैं।

---

१ सल्लेहणाए मूल जो वच्चइ तिव्वभत्तिराएण ।
भोत्तूण य देवसुह सो पावइ उत्तम ठाण ॥६८१॥
एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
णहु हिंडदि बहुसो सत्तट्ठभव पमोत्तूण ॥६८२॥
सोदूण उत्तमट्ठस्स साधण तिव्वभत्तिसजुत्तो ।
जदि णावयादि को उत्तमट्ठमरणम्मि से भत्ती ॥६८३॥
जस्स पुण उत्तमट्ठमरणम्मि भत्ती ण विज्जदे तस्स ।
किह उत्तमट्ठमरण सपज्जदि मरणकालम्मि ॥६८४॥
—मूलाराधना पृ० ८७०
एगम्हि भवग्गहणे समाहिमरणं लभेज्ज जदि जीवो ।
सत्तट्ठभवग्गहणे णिव्वाणमणुत्तरं लहदि ॥ —मूलाचार

२ वर्षास्वनुष्ठकार्येण हिमे ग्रीष्मे लघावपि ।
याजनानि द्वा दे च कार्ये गच्छन्न दोषभाक् ॥ —प्राय० समु प० ४९

परिचारक मुनि क्षपक को ऐसा उपदेश सुनाते हैं कि जिससे वे अपने चारित्र में पूर्णतया दृढ़ बने रहते हैं। राग, वेदना आदि की व्याकुलता से अधीर नहीं होने पाते हैं। परिचारक साधु क्षपक को तेल और कषायले पदार्थों के कुरले कराते हैं कि जिससे उनकी जिह्वा स्वच्छ रहे, बोलने की सामर्थ्य नष्ट नहीं होवे। कान में भी तेल डालते रहने से श्रवण शक्ति नष्ट नहीं होती है[1]।

निर्यापकाचार्य जब अच्छी तरह क्षपक के वैराग्य को और शरीर स्थिति को देख लेते हैं तब उसे पेय—मट्ठा जल आदि रखकर बाकी तीन प्रकार का आहार चतुर्विधसंघ के समक्ष त्याग करा देते हैं। पानक पदार्थ सेवन करने वाले क्षपक को उदर के मल की शुद्धि हेतु मधुर रेचक औषधि भी देते हैं। जिससे उदर में मल सूखकर पीड़ा उत्पन्न न करे। जब आचार्य तीन प्रकार के आहार का त्याग करा देते हैं तब क्षपक से सभी साधुओं के प्रति क्षमायाचना कराई जाती है। पुनः सभी साधु भी क्षमायाचना करके क्षपक की निर्विघ्न समाधि हेतु कायोत्सर्ग करते हैं।

निर्यापकाचार्य क्षपक के दीक्षित जीवन के सम्पूर्ण दोषों की आलोचना सुनते हैं। उसे उत्तमार्थ प्रतिक्रमण सुनाते हैं और दोषों का पूर्णतया शोधन कर देते हैं। तब वह क्षपक अंतरंग से बिल्कुल निर्मलचित्त निःशल्य होता हुआ अपने को स्वस्थ और लघु (हल्का) अतिचारों के भार से मुक्त समझता हुआ प्रसन्नचित्त हो जाता है।

अनन्तर शक्ति अत्यंत क्षीण देखकर आचार्य क्षपक को जल का भी त्याग करा देते हैं। यदि कोई साधु इतने धीर नहीं है तो उन्हें जल आदि पेय का त्याग नहीं कराया जाता है। अन्त समय में ही उसका त्याग कराते हैं। क्योंकि किसी भी त्याग से साधु के परिणाम में संक्लेश नहीं उत्पन्न हो जावे ऐसा ध्यान रखना निर्यापक का कर्तव्य है[2]। अनन्तर परिचारक साधु मात्र जिनवचन और महामन्त्र रूपी अमृत का पान कराते हुए क्षपक की आत्मा का पोषण करते हैं। निर्यापकाचार्य भी

१ तेल्लकसायादीहिं य बहुसो गंडूसया दु घेत्तव्वा।
जिब्भाकण्णाण बलं होहिदि तुंडं च से विसदं ॥६८८॥

—मूलारा० पृ० ८७४

२ अहवा समाधिहेदुं कायव्वो पाणयस्स आहारो।
तो पाणयं पि पच्छा वोसरिदव्वं जहाकाले ॥७०८॥

—मूलारा० पृ० ८८६

संस्तराल्ढ क्षपक श्रुतज्ञान के अनुसार उपदेश देते हैं और संवेग तथा निर्वेग उत्पन्न करने वाला कणजाप देते हैं।

सल्लेखना के दो भेद हैं—बाह्य और अभ्यन्तर। अथवा द्रव्य सल्लेखना और भाव सल्लेखना। इसमें से आहार का क्रम-क्रम से छोड़ना बाह्य सल्लेखना द्रव्य सल्लेखना अथवा शरीर सल्लेखना है। सम्यग्दर्शन आदि भावना के द्वारा मिथ्यात्व कषाय आदि परिणामों का कृश करना अभ्यन्तर सल्लेखना भावसल्लेखना और कषाय सल्लेखना है। अर्थात् सत् सम्यक् प्रकार से लेखना—कृश करना सल्लेखना है। इसमें काय और कषायों को कृश किया जाता है।

यह सल्लेखना आत्मघात नहीं है क्योंकि जो कषाय से आविष्ट होकर विष शस्त्र आदि के द्वारा अपना घात कर लेता है उसे ही आत्मघात कहते हैं। वह इस सल्लेखना में सम्भव नहीं है[1]। क्योंकि 'उपसर्ग आ जाने पर दुर्भिक्ष हो जाने पर या अतीव वृद्धावस्था के हो जाने पर अथवा असाध्य व्याधि के हो जाने पर जब उसका प्रतीकार नहीं हो सकता है। अथवा नेत्रज्योति मन्द हो जाने पर या जंघाबल घट जाने पर जब संयम की रक्षा नहीं हो सकती है तब साधु धर्म के लिये—संयम की रक्षा के लिये धर्मध्यानपूर्वक जो शरीर का त्याग करते हैं। उसी का नाम सल्लेखना है[2]। यदि किसी ने जीवन भर रत्नत्रय का पालन किया है और अन्त समय परिणाम बिगड़ जाते हैं या रत्नत्रय से च्युत हो जाता है तो वह पुनः अनन्तसंसार में डूब जाता है इसलिये अन्तसमय संयम या अपने योग्य ग्रहण किये गये धर्म की रक्षा का अत्यधिक महत्त्व है जो कि सल्लेखना से ही सिद्ध हो सकता है। अतएव मरण के अन्त में सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक करना चाहिये।

पूज्यपाद स्वामी ने तो यहाँ तक कहा है कि—हे भगवन्! बाल्यावस्था से लेकर आजतक मैंने आपके श्रीचरणों की उपासना करके जो कुछ भी पुण्य संचित किया है उसका फल मैं यही माँगता हूँ कि जब मेरे प्राण प्रयाण करने लगें उस समय आपके नाम को जपने में मेरा कंठ

---

१ यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥१७८॥ —पुरुषार्थ सि०

२ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

लिये संघ की शान्ति हेतु पूर्वोक्त नैऋत्य, दक्षिण और पश्चिम दिशा में ही निषीधिका स्थापित करना चाहिये।

निषद्यास्थान में तृण का संस्तर बनाना चाहिये जो कि सम हो। यदि संस्तर विषम होता है तो साधुओं में मरण या व्याधि आदि अनेक हानियाँ होती हैं। इन सब बातों को आगम से ही विशेष समझना चाहिये। यदि पंचक आदि अशुभ काल में मुनि का मरण हुआ है तो संघ की शान्ति हेतु आगमोक्तविधि करनी चाहिये। पुनः अर्हत भगवान् की पूजा आदि करके शान्ति करना चाहिये।

अनन्तर चारों आराधनाओं की प्राप्ति हेतु संघ मिलकर कायोत्सर्ग करके क्षपक की वसतिका में अधिष्ठित देवता से 'संघ यहाँ बैठना चाहता है' ऐसा पूछकर इच्छाकार करते हैं। यदि अपने गण में मुनि का मरण हुआ तो सभी साधु उपवास करते हैं और उस दिन स्वाध्याय नहीं करते हैं। यदि परगण के मुनि का मरण हुआ है तो उपवास में विकल्प है अर्थात् करें या न भी करें किन्तु स्वाध्याय वर्जित ही है[2]।'

साधुओं को समय-समय पर मुनियों के निषद्या की वन्दना बड़ी भक्ति से करनी चाहिये। सल्लेखना कराने वाले निर्यापक आचार्य महान् तीर्थस्वरूप हैं, पूज्य हैं और क्षपक भी पुण्यतीर्थरूप हैं वंदना करने योग्य हैं। जब तपोधनों के द्वारा सेवित पर्वत आदि तीर्थ बन जाते हैं तो पुनः क्षपक मुनि भी तीर्थभूत क्यों नहीं होगा? 'यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमा की वन्दना करने से भी विपुल पुण्य होता है तो क्षपक की वन्दना से क्या नहीं होगा[3]?' इसलिये क्षपक की भक्ति करना चाहिये। इस प्रकार सविचार भक्त प्रत्याख्यान का संक्षिप्त वर्णन हुआ है।

अकस्मात् मरण के उपस्थित होने पर अविचार भक्त प्रत्याख्यान मरण होता है। इसमें आचार्य या साधु यदि अन्य संघ में नहीं जा सकते हैं तो स्वगण के साधु वर्ग ही उनकी विधिवत् परिचर्या करके सल्लेखना कराते हैं। संपूर्ण दोषों की आलोचना करके काय और कषायों को कृश करते हुए सबसे क्षमा कराके और सबको क्षमा करके शल्य रहित होकर

---

१ मूलाराधना पृ० १७४६ से

२ समणत्थे कालगदे खमणमसज्झाइयं च तद्दिवसं।
सज्झाइ परगणत्थे भयणिज्जं खमणकरणं पि ॥१९९५॥ —मूलाराधना

३ पुव्वरिसीणं पडिमाओ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं।
खवयस्स वंदओ विह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥२००८॥ —मूलाराधना

महामन्त्र का स्मरण करते हुए जो मरण होता है वही सल्लेखना मरण है।

सल्लेखना के यम और नियम की अपेक्षा भी दो भेद हैं।

जीवनपर्यन्त के लिए चतुराहार का त्याग कर देना यम सल्लेखना है और उपसर्ग आदि विशेष प्रसंगों के आ जाने पर "मैं यदि इस उपसर्ग से बचूँगा तो आहार ग्रहण करूँगा अन्यथा चतुराहार का त्याग है" ऐसा नियम करके सल्लेखना ग्रहण करना नियम सल्लेखना है। जैसा कि अकंपनाचार्य ने उपसर्ग के समय नियम सल्लेखना ली थी अतः उपसर्ग निवारण के बाद पुनः आहारार्थ गये।

इस प्रकार से संक्षेप में सल्लेखना का वर्णन किया है।

विशेष—वर्तमान में भक्त प्रत्याख्यान नाम का एक सल्लेखना मरण ही माना गया है। उसमें भी उत्तम मध्यम जघन्य की अपेक्षा से अनुष्ठान करने वाले मुनियों में अनेकों भेद संभव हैं। सर्वकाल की अपेक्षा पंडित मरण और पंडितपंडितमरण की अपेक्षा दिगम्बर मुनियों में नाना भेद पाये जा सकते हैं।

५ गुणस्थान

गुणस्थानो की अपेक्षा मुनियों में भेद

दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय उपशम आदि अवस्था के होने पर जीव के जो परिणाम होते हैं उन परिणामो को गुणस्थान कहते हैं। ये गुणस्थान मोह और योग के निमित्त से होते हैं। इन परिणामों से सहित जीव *गुणस्थान वाले* कहलाते हैं। इनके १४ भेद हैं—

मिथ्यात्व सासादन मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमत्त विरत, अप्रमत्तविरत अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसापराय, उपशांत मोह क्षीणमोह, सयोगकेवलीजिन और अयोगकेवलीजिन।

१ मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान वाले मिथ्यादृष्टि जीव को सच्चा धर्म अच्छा नही लगता है।

२ उपशम सम्यक्त्व के अंतमुहूर्त काल म जब कम-से कम एक समय या अधिक-से-अधिक छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने काल मे अनन्तानुबंधी क्रोधादि चार कषाय मे से किसी एक का उदय आ जाने से सम्यक्त्व की विराधना हो जाने पर सम्यक्त्व से तो गिर गया है। किंतु मिथ्यात्व म अभी नही पहुँचा है।

३ सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है उसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

४ दर्शनमोहनीय और अनंतानुबंधी कषाय के उपशम आदि के होने पर जीव का जो तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप परिणाम होता है वह सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के तीन भेद हैं—उपशम सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व और वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। दर्शन मोहनीय की तीन और अनंतानुबंधी की चार ऐसी ७ प्रकृतियों के उपशम से उपशम और क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है।

इस गुणस्थान वाला जीव जिनेंद्र कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है। तथा इन्द्रियों के विषय आदि से विरत नहीं हुआ है। इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

५ सम्यग्दृष्टि के अणुव्रत आदि एकदेशव्रतरूप परिणाम को देश विरत गुणस्थान कहते हैं। इसमें भाव के प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से महाव्रतरूप गुण संयम नहीं होता है।

६ प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से सकल संयम रूप मुनिव्रत तो हो चुके हैं। किन्तु संज्वलन कषाय और नोकषाय के उदय से संयम में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी होता है। अतः इस गुणस्थान को प्रमत्तविरत कहते हैं। यह गुणस्थान दिगम्बर मुनियों के होता है।

७ संज्वलन कषाय और नोकषाय का मन्द उदय होने से संयमी मुनि के प्रमाद रहित संयमभाव होता है। तब यह अप्रमत्तविरत गुणस्थान होता है। इसके दो भेद हैं—स्वस्थान प्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त।

जब मुनि शरीर और आत्मा के भेद विज्ञान में तथा ध्यान में लीन रहते हैं तब स्वस्थान अप्रमत्त होता है। और जब श्रेणी के सन्मुख होते हुए ध्यान में प्रथम अध प्रवृत्तकरण रूप परिणाम होता है। तब सातिशय अप्रमत्त होता है। आजकल पंचमकाल में स्वस्थान अप्रमत्त मुनि हो सकते हैं सातिशय अप्रमत्त परिणाम वाले नहीं हो सकते हैं।

८ जिस समय भावों की विशुद्धि से उत्तरोत्तर अपूर्व परिणाम होते जाएँ। अर्थात् भिन्न समयवर्ती मुनि के परिणाम विसदृश ही हों। एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हों उसको अपूर्वकरण कहते हैं।

९. जिस गुणस्थान में एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम सदृश ही हों। और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विसदृश ही हों उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अध प्रवृत्तकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों के परिणाम प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि लिए हुए हैं।

१० अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभकषाय के उदय को अनुभव करते हुए जीव के सूक्ष्मसापरायगुणस्थान होता है।

११ सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम होने से अत्यन्त निर्मल यथाख्यात चारित्र को धारण करने वाले मुनि के उपशांतमोहगुणस्थान होता है। इस गुणस्थान का काल समाप्त होने पर जीव मोहनीय का उदय आ जाने से नीचे के गुणस्थानों में आ जाता है।

१२ मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से स्फटिकमणि के निर्मल पात्र में रखे गये जल के सदृश निर्मल परिणाम वाले निर्ग्रन्थ मुनि क्षीण कषाय नामक गुणस्थान वाले होते हैं।

१३ घातियाँ कर्म की ४७ अघातियाँ कर्मों की १६ इस तरह ६३ प्रकृतियों के सर्वथा नाश हो जाने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। उस

निन्यानवे हजार एक सौ तीन हैं। उपशमश्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती ११९६ क्षपकश्रेणी वाले चारों गुणस्थानवर्ती २३९२ सयोगी जिन ८९८५०२ हैं और अयोगीकेवलियों का प्रमाण ५९८ है। इन सबका जोड़ करने पर ५९३९८२०६ + २९६९९१०३ + ११९६ + २३९२ + ८९८५०२ + ५९८ = ८,९९ ९९,९९७ है। अर्थात् छट्ठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सर्वसंयमियों का प्रमाण तीन कम नव करोड़ हैं। इन सबको मैं सिर नवाकर त्रिकरणशुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।'

विशेष—भावों की अपेक्षा छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक के जीव दिगम्बर मुनि होते हैं। उपर्युक्त संख्या भावलिंगी मुनियों की अपेक्षा है। द्रव्य की अपेक्षा दिगम्बर मुनियों में भी कदाचित् पहले गुणस्थान से पांचवां तक भी रह सकता है तब वे मुनि द्रव्यलिंगी कहलाते हैं। द्रव्य से मुनि होनेवाले द्रव्यलिंगी ही क्यों न हो किन्तु वे ही सोलहवें स्वर्ग के ऊपर नवग्रैवेयक तक भी जा सकते हैं किन्तु द्रव्य से भी जो मुनि नहीं हैं ऐसे उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक-क्षुल्लक) या आर्यिकायें सोलहवें स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं। इस प्रकार छठे से लेकर चौदहवें तक गुणस्थानों की अपेक्षा अथवा द्रव्यलिंगी और भावलिंगी की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों में भेद हो जाता है। द्रव्यलिंगी में सभी मिथ्यादृष्टि ही नहीं होते हैं किन्तु चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती भी होते हैं।

कर्म निर्जरा

कर्म निर्जरा की अपेक्षा मुनियों में भेद— सम्यग्दृष्टि श्रावक विरत अनंतानुबंधीविसंयोजक दर्शन मोहक्षपक उपशमक उपशांतमोह क्षपक क्षीणमोह और जिन ये क्रम से असंख्यातगुण निर्जरा वाले होते हैं।[२]

अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त करने में कुछ ही क्षण जिसके बाकी हैं ऐसा अपूर्वकरण आदि परिणामों को प्राप्त करता हुआ जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि कहलाता है। उसकी अपेक्षा सम्यक्त्व प्राप्त हो जानेपर सम्यग्दृष्टि जीव के कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक होती है। सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशव्रती के निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक होती है।

---

१ सत्तादी अट्ठंता, छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे।
अंजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि ॥६३३॥ —गोम्म० जीव०

२ सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानंतवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशांतमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥ —तत्त्वार्थ सूत्र अ ९

देवव्रती की अपेक्षा मुनि क निजरा असख्यातगुणी अधिक होती है। ऐसे जो अनतानुबधी का विसयोजन (अप्रत्याख्यान मे परिणाना) करने वाले हैं जो दशन मोहनीय का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं जो उपशमश्रेणी पर चढे हैं जो ग्यारहवें गुणस्थान मे मोह का पूणतया उप शमन कर चुके हैं जो क्षपकश्रेणी पर चढे हैं जा मोहनीय का क्षय कर के बारहवें गुणस्थान मे क्षीणमोह हो चुके हैं और जो सयोगकेवली जिन हैं। इन सबमे पूव पूव की अपेक्षा आगे-आगे वाले में असख्यातगुण श्रेणी रूप से निजरा अधिक अधिक होती चली जाती है।

आज क युग मे मात्र विरत पयत अथात् छठे सातवें गुणस्थान वाले ही मुनि होते हैं। अन्य नही हाते।

विशेष—जो ये निजरा के स्थान बताये हैं उनमे भी प्रत्येक स्थानो मे जीवो के भावो की अपेक्षा निजरा में तरतमता हो जाती है। इन निजरा करने वाले की अपेक्षा भी दिगवर मुनियो मे भेद हा जाता है।

■

६ तीर्थंकर मुनि

तीर्थङ्करों की अपेक्षा मुनियों में भेद

तीर्थंकर प्रकृति का जिनके बन्ध हो चुका है उनके गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही रत्नों की वर्षा आदि होकर गर्भागम के समय इन्द्रादि आकर गर्भ महोत्सव मनाते हैं। जन्म लेते ही इन्द्रादि देव आकर भगवान् शिशु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव करते हैं।

जब उन्हें वैराग्य होता है उसी समय लौकान्तिक देव आकर भगवान् के वैराग्य की प्रशंसा व अनुमोदना करके भगवान् की स्तुति करके चले जाते हैं। ये देव अन्य कल्याणकों में नहीं आते हैं चूँकि ये पूर्णतया वैराग्यप्रिय होते हैं, ब्रह्मचारी हैं और एक भवावतारी हैं। ये देवर्षि कहलाते हैं। पुनः इन्द्रादि देव आकर पालकी में विराजमान करके वन में ले जाकर रत्नों से पूरित चौक पर प्रभु को विराजमान करते हैं। भगवान् उस समय किसी गुरु से दीक्षा न लेकर स्वयं ॐ नमः सिद्धेभ्यः पद के उच्चारणपूर्वक सिद्धों को नमस्कार करके केशलोंच करके दीक्षा ले लेते हैं।

तीर्थंकर के सिवाय अन्य किसी को स्वयं दीक्षा लेने का विधान नहीं है।

स्वयं दीक्षा का निषेध

जैसे तीर्थंकर स्वयं दीक्षा लेते हैं वैसे ही अन्य कोई स्वयं दीक्षा लेकर मुनि बन जाये तो क्या बाधा है?

भगवान् की आज्ञा का लोप होता है इसलिए तीर्थंकरों ने तीर्थंकर प्रकृति बंध के पहले के मनुष्य भव में गुरुओं से ही दीक्षा ली थी।

चौबीस तीर्थंकरों के पूर्व भव के नाम क्रमशः १ वज्रनाभि २ विमल ३ विपुलवाहन ४ महाबल ५ अतिबल ६ अपराजित ७ नंदिषेण, ८ पद्म ९ महापद्म १० पद्मगुल्म ११ नलिनगुल्म १२ पद्मोत्तर १३ पद्मासन १४ पद्म १५ दशरथ १६ मेघरथ १७ सिंहरथ १८ धनपति १९ वैश्रवण २० श्रीधर्म २१ सिद्धार्थ, २२ सुप्रतिष्ठ, २३ आनन्द और २४ नंदन। इनमें से भगवान् वृषभदेव पूर्वभव में वज्रनाभि की पर्याय में चक्रवर्ती थे तथा दीक्षित होकर चौदह पूर्वों के ज्ञाता हुए थे और शेष तीर्थङ्कर पूर्व में महामण्डलेश्वर थे और दीक्षित होने पर ग्यारह अंग के

बैठा हुए थे। सभी तीर्थङ्करों ने पूर्वभव में मुनि अवस्था में सिंहनिष्क्रीडित व्रत तथा अन्त में एक उपवास के साथ प्रायोपगमन संन्यास धारण किया था और सभी यथायोग्य स्वर्गों में गये थे।

इन तीर्थङ्करों के पूर्वजन्म के दीक्षा गुरु के नाम क्रमशः—१ वज्रसेन २ अरिंदम ३ स्वयंप्रभ ४ विमलवाहन ५ सीमंधर ६ पिहितास्रव ७ अरिंदम, ८ युगंधर ९ सर्वजनानंदि १० उभयानंद ११ वज्रदन्त १२ वज्रनाभि १३ सर्वगुप्त १४ त्रिगुप्त १५ चित्तरक्ष १६ विमलवाहन १७ घनरथ १८ संवर १९ वरधर्म २० सुनंद २१ नंद २२ व्यतीतशोक २३ दामर और २४ प्रोष्ठिल थे।

पूर्वोक्त वज्रनाभि आदि महापुरुषों ने केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में सोलहकारणभावनायें भाकर तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध किया था। सो ही कहा है—

"प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अथवा शेष तीन सम्यक्त्व में से किसी में स्थित हुए जीव चौथे पाँचवें छठे या सातवें गुणस्थान में किसी भी गुणस्थान में रहते हुए केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध करते हैं।[२]"

एक और बात विशेष है कि तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य ही होना चाहिये।

मिथ्यादृष्टि के अनंतानुबंधी चतुष्क और एक मिथ्यात्व ये पाँच अथवा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व सहित सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो तत्त्वश्रद्धान चल, मलिन और अगाढ़ दोष सहित होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

उपर्युक्त सातों प्रकृतियों के क्षय से होने वाला सम्यक्त्व क्षायिक है। इस सम्यक्त्व को कर्मभूमिया मनुष्य केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही प्राप्त करता है।[३]"

---

१ हरिवंश पु० प० ६० पृ० ७१८।

२ पढमुवसमिय सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥९३॥ —गोम्मटसार कर्म०

३ दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४८॥
—गोम्मटसार जीव०

६ तीर्थंकर मुनि

तीर्थङ्करों की अपेक्षा मुनियों के भेद

तीर्थकर प्रकृति का जिनके बन्ध हो चुका है उनके गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही रत्नों की वर्षा आदि होकर गर्भागम के समय इन्द्रादि आकर गर्भ महोत्सव मनाते हैं। जन्म लेते ही इन्द्रादि देव आकर भगवान् शिशु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक महोत्सव करते हैं।

जब उन्हें वैराग्य होता है उसी समय लौकान्तिक देव आकर भगवान् के वैराग्य की प्रशंसा व अनुमोदना करके भगवान् की स्तुति करके चले जाते हैं। ये देव अन्य कल्याणकों में नहीं आते हैं चूँकि ये पूर्णतया वैराग्यप्रिय होते हैं, ब्रह्मचारी हैं और एक भवावतारी हैं। ये देवर्षि कहलाते हैं। पुनः इन्द्रादि देव आकर पालकी में विराजमान करके वन में ले जाकर रत्नों से पूरित चौक पर प्रभु को विराजमान करते हैं। भगवान् उस समय किसी गुरु से दीक्षा न लेकर स्वयं ॐ नमः सिद्धं पद के उच्चारणपूर्वक सिद्धों को नमस्कार करके केशलोंच करके दीक्षा ले लेते हैं।

तीर्थंकर के सिवाय अन्य किसी को स्वयं दीक्षा लेने का विधान नहीं है।

स्वयं दीक्षा का निषेध

जैसे तीर्थकर स्वयं दीक्षा लेते हैं वैसे ही अन्य कोई स्वयं दीक्षा लेकर मुनि बन जाये तो क्या बाधा है?

भगवान् की आज्ञा का लोप होता है इसलिए तीर्थंकरों ने तीर्थंकर प्रकृति बंध के पहले के मनुष्य भव में गुरुओं से ही दीक्षा ली थी।

चौबीस तीर्थकरों के पूर्व भव के नाम क्रमशः १ वज्रनाभि २ विमल ३ विपुलवाहन ४ महाबल ५ अतिबल ६ अपराजित ७ नंदिषेण, ८ पद्म ९ महापद्म १० पद्मगुल्म ११ नलिनगुल्म १२ पद्मोत्तर १३ पद्मासन १४ पद्म १५ दशरथ १६ मेघरथ १७ सिंहरथ १८ धनपति १९ वैश्रवण २० श्रीधर्म २१ सिद्धार्थ २२ सुप्रतिष्ठ, २३ आनन्द और २४ नन्द। इनमें से भगवान् वृषभदेव पूर्वभव में वज्रनाभि की पर्याय में चक्रवर्ती थे तथा दीक्षित होकर चौदह पूर्वों के ज्ञाता हुए थे और इन तीर्थंकर पूर्व में महामंडलेश्वर थे और दीक्षित होने पर ग्यारह अंग के

वैत्ता हुए थे। सभी तीथङ्करा ने पूर्वभव मे मुनि अवस्था मे सिंहनिष्क्रीडित व्रत तपकर अन्त मे एक उपवास के साथ प्रायोपगमन सन्यास धारण किया था और सभी यथायोग्य स्वर्गों मे गये थे।

इन तीथङ्करो के पूर्वजन्म के दीक्षा गुरु के नाम क्रमश —१ वज्रसेन २ अरिंदम ३ स्वयप्रभ ४ विमलवाहन ५ सीमधर ६ पिहितास्रव ७ अरिन्दम ८ युगधर ९ सर्वजनानन्दि १० उभयानद ११ वज्रदत्त १२ वज्रनाभि १३ सर्वगुप्त १४ त्रिगुप्त १५ चित्तरक्ष १६ विमलवाहन १७ धनरथ १८ सवर १९ वरधम २० सुनद २१ नद २२ व्यतीतशोक २३ दामर और २४ प्रोष्ठिल थे[१]।

पूर्वोक्त वज्रनाभि आदि महापुरुषो ने केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल म सोलहकारणभावनायें भाकर तीथङ्कर प्रकृति का बध किया था। सो ही कहा है—

'प्रथमोपशम सम्यक्त्व म अथवा शेष तीन सम्यक्त्व म से किसी में स्थित हुए जीव चौथे पाँचवे छठे या सातवें गुणस्थान म किसी भी गुणस्थान मे रहते हुए केवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल म तीथङ्कर प्रकृति का बध करते हैं।[२]'

एक और बात विशेष है कि तीथङ्कर प्रकृति का बध करने वाला कर्मभूमिज मनुष्य ही होना चाहिये।

मिथ्यादृष्टि के अनतानुबधी चतुष्क और एक मिथ्यात्व ये पाँच अथवा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व सहित सात प्रकृतियो के उपशम से उपशम सम्यक्त्व होता है।

सम्यक्त्व प्रकृति के उदय स जो तत्त्वश्रद्धान चल मलिन और अगाढ दोष सहित होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

उपर्युक्त सातो प्रकृतियो के क्षय से होने वाला सम्यक्त्व क्षायिक है। इस सम्यक्त्व को कर्मभूमिया मनुष्यकेवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही प्राप्त करता है।[३]

---

१ हरिवंश पु० प० ६० पृ० ७१८।

२ पढमुवसमिय सम्मे सेसतिये अविरदादिचत्तारि।
तित्थयरबधपारभया णरा केवलिदुगंते ॥९३॥ —गोम्मटसार कर्म०

३ दसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥६४८॥
—गोम्मटसार जीव०

सोलहकारण भावना

१ दर्शनविशुद्धि—जिनेन्द्र भगवान् अरिहंतदेव द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रंथ स्वरूप मोक्षमार्ग मे रुचि-श्रद्धा का होना दर्शनविशुद्धि है। इसके निःशंकित आदि आठ अंग हैं।

२ विनयसंपन्नता—सम्यग्ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उनके साधन गुरु आदि के प्रति अपने योग्य आचरण द्वारा आदर सत्कार करना विनय है। इससे सहित होना विनयसंपन्नता है।

३ शीलव्रतानतिचार—अहिंसा आदि व्रतों में और इनके पालन हेतु क्रोध आदि के त्यागरूप शील मे निर्दोष प्रवृत्ति करना।

४ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—जीवादि पदार्थरूप स्वतत्व विषयक सम्यग्ज्ञान में निरंतर लगे रहना।

५ संवेग—संसार के दुःखों से निरंतर डरते रहना।

६ शक्तितस्त्याग—आहार, अभय और ज्ञान इन तीनों का शक्ति के अनुसार विधिवत् देना।

धवला में कहा है कि— साधुओं के द्वारा विहित प्रासुक अर्थात् निरवद्य ज्ञान दर्शन आदि के त्याग से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है। अर्थात् दयाबुद्धि से साधुओं द्वारा किये जाने वाले ज्ञान दर्शन व चारित्र के परित्याग या दान का नाम प्रासुकपरित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में संभव नहीं है। क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। रत्नत्रय का उपदेश भी गृहस्थों में संभव नहीं है क्योंकि दृष्टिवाद आदि उपरिम श्रुत के उपदेश में उनका अधिकार नहीं है। अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है[1]।

७ शक्तितस्तप—शक्ति को न छिपाकर मोक्षमार्ग के अनुकूल शरीर को क्लेश देना।

८ साधुसमाधि—जैसे भांडार में अग्नि लग जाने पर बहुत उपकारी होने से अग्नि को बुझाया जाता है उसी प्रकार अनेक प्रकार के व्रतों और शीलों से समृद्ध मुनि के तप करते हुए किसी कारण से विघ्न उत्पन्न होने

---

१ दयाबुद्धीए साहूणं णाणदंसणचरित्तपरिच्चागो दाणं फासुअपरिच्चागो णाम। ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवदि, तत्थ चरित्ताभावादो। तिरयणोवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं दिट्ठिवादादिउवरिमसुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो। तदो एदं कारणं महेसिणं चेव होदि।

—धवला पु० ८ पृ० ८७

पर उनका संधारण करना-विघ्ना का दूर करना।

९. वैयावृत्य—गुणी पुरुष के दुःख में आ पड़ने पर निर्दोष विधि से उसका दुःख दूर करना।

१० अरिहंत भक्ति—अरिहंत देव में भावों की विशुद्धि के साथ अनुराग रखना।

११ आचार्य भक्ति—आचार्यों में भक्ति पूजा आदि करना।

१२ बहुश्रुतभक्ति—उपाध्यायों की भक्ति करना।

१३ प्रवचनभक्ति—प्रवचन-जिनागम में अनुराग रखना।

१४ आवश्यक अपरिहाणि—छह आवश्यक क्रियाओं को यथासमय करना।

१५ मार्ग प्रभावना—ज्ञान तप दान और जिन पूजा के द्वारा धर्म का प्रकाश करना।

१६ प्रवचनवात्सल्य—जैसे गाय अपने बछड़े पर स्नेह करती है वैसे ही साधर्मियों पर स्नेह रखना।

ये सब सोलहकारण भावनायें हैं। इनमें से दर्शनविशुद्धि सहित किन्हीं किन्हीं भावनाओं के चिंतवन से अथवा समस्त भावनाओं के चिंतवन से तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है।[1]

विशेष—भरत और ऐरावत क्षेत्र के सभी तीर्थंकर पांच कल्याणक वाले ही होते हैं किंतु विदेह क्षेत्र की १६० कर्मभूमियों में अधिक-से-अधिक १६० तीर्थंकर भी एक साथ हो सकते हैं। इनमें सभी पांच कल्याणक वाले ही हों ऐसा नियम नहीं है। यदि ये गृहस्थावस्था में तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लेते हैं तो इनके तीन कल्याणक अथवा मुनि होने के बाद तीर्थंकर प्रकृति बांधने पर दो कल्याणक होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति वाले महापुरुष दीक्षा लेकर केवलज्ञान होने तक मौन ही रहते हैं। तथा सामान्य दिगंबर साधुओं के लिये कोई नियम नहीं है। इस अपेक्षा तीर्थंकर मुनि और सामान्य मुनि में महान् अंतर होता है।

समवसरण के अंतर्गत सात संघों की अपेक्षा मुनियों में भेद

चौबीसों तीर्थंकरों का चतुर्विध संघ—भगवान् वृषभदेव के समय ऋषियों का प्रमाण चौरासी हजार है। अजितनाथ के समवसरण में एक लाख मुनि हैं। चतुर्विध संघ में इनकी संख्या कही गई है।

[1] इन भावनाओं का वर्णन सर्वार्थसिद्धि के आधार से।

प्रत्येक तीर्थङ्करो के समवसरण मे ऋषियो के सात संघ होते हैं। पूर्वधर, शिक्षक अवधिज्ञानी केवली विक्रियाऋद्धि के धारक विपुलमति और वादी ये सात प्रकार हैं।

ऋषभदेव के सात गणो मे से पूर्वधर ४७५० शिक्षक ४१५०, अवधिज्ञानी ९००० केवली २००००, विक्रिया ऋद्धिधारी २०६०० विपुलमति १२७५० और वादी १२७५० हैं। इन सबका जोड ४७५० + ४१५० + ९००० + २००० + २०६०० + १२७५० + १२७५० = ८४००० होता है।

ऐसे सभी तीर्थंकरो के सात संघ होते हैं।

भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण मे १४००० मुनि हैं। उनमे सात प्रकार के संघ का विभाजन—पूर्वधर ३०० + शिक्षक ९९०० + अवधिज्ञानी १३०० + केवली ७०० + विक्रियाधारी ९०० + विपुलमति ५०० + वादी ४०० = १४००० मुनि हैं।

चौबीस तीर्थंकरो के चतुर्विध संघ की संख्या—

	मुनि	आर्यिका	श्रावक	श्राविका
१	८४०००	३५००००	३ ००००	५०००००
२	१ ० ०	३२०० ०	३०००००	५००००
३	२०००००	३२० ००	३००० ०	५ ००००
४	३००००	३३ ६००	३००० ०	५० ०००
५	३ ००	३३००००	३००० ०	५०००००
६	३३००००	४२००	३०००००	५०००००
७	३३००००	३ ००००	३० ००	५०००००
८	२५००००	३८००००	३०० ००	५ ००००
९	[illegible]	३ ० ००	२०००००	५०००००
१०	१ ००००	८०० ०	२०००००	४०००००
११	८४०००	१२००००	२०००००	४०००००
[illegible]	७ ०००	१०२००	२०००	४०००००
१३	६ ०००	१ ०००	०००००	४३००००
१४	६६ ००	१ ० ०	२० ००	४०००००
[illegible]	६४ ०	६ ४ ०	२००० ०	४०००००
१६	६ ०००	६ ३ ०	२ ० ००	४०००००
१७	६००००	६०३५ ०	१००००	३०००००

२ मनःपर्ययज्ञान—यह ज्ञान चिंतित अचिंतित या अर्धचिंतित के विषयभूत पदार्थों को नरलोक के भीतर जानता है।

३ केवलज्ञान—यह इन्द्रियादि की सहायतारहित संपूर्ण लोकालोक को विषय करता है।

४ बीजबुद्धि—जो बुद्धि संख्यात शब्दों के बीच में बीजभूत पद को परके उपदेश से प्राप्त करके उसके आश्रय से संपूर्णश्रुत को जान लेती है।

५ कोष्ठबुद्धि—यह ऋद्धि अनेक ग्रन्थों के शब्दरूप बीजों को ग्रहण करके मिश्रण रहित बुद्धिरूपी कोठे में धारण करती है।

६ पदानुसारी—गुरु के उपदेश से आदि, मध्य अथवा अंत के एक पद को ग्रहण करके यह ऋद्धि सारे ग्रन्थ को ग्रहण कर लेता है।

७ संभिन्नश्रोतृत्व—इस ऋद्धि से मुनि श्रोत्रेंद्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों प्रमाण में स्थित मनुष्य तिर्यंचों के अक्षर-अनक्षर शब्दों को सुनकर प्रत्युत्तर दे सकता है।

८ दूरास्वादित्व—इसके बल से जिह्वेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय से बाहर संख्यात योजन के विविध रसों को जान लिया जाता है।

९ दूरस्पर्शत्व—इसमें स्पर्शेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों तक आठ प्रकार के स्पर्शों को जान लिया जाता है।

१० दूरघ्राणत्व—घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों तक बहुत प्रकार के गंधों का ग्रहण कर लेना।

११ दूरश्रवणत्व—श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योजनों प्रमाण में स्थित मनुष्य तिर्यंचों के अक्षर-अनक्षरात्मक शब्दों का श्रवण कर लेना।

१२ दूरदर्शित्व—चक्षुरिन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय क्षेत्र के बाहर संख्यात योज[illegible] [illegible] देखना यह दूरदर्शित्व है।

[illegible] [illegible]पूर्व के पढ़ने में पाँच सौ महाविद्या
औ[illegible] [illegible]कर आकर आज्ञा मांगती हैं। उन
सब[illegible] [illegible] हैं और उनकी इच्छा नहीं करके

के [illegible] [illegible]दर्शी हैं वे

१५ अष्टांगमहानिमित्त—यह ऋद्धि नभ भौम अंग स्वर-व्यंजन लक्षण चिह्न और स्वप्न इन आठ भेदो सहित निमित्तज्ञान मे कुशल हैं।

१६ प्रज्ञाश्रमणत्व—इस ऋद्धि से युक्त महामुनि अध्ययन के बिना ही चौदह पूर्वो म से अतिसूक्ष्म विषय को निरूपण करने मे कुशल होते हैं।

१७ प्रत्येक बुद्धित्व—इसमे गुरु के उपदेश विना ही कर्मों क उपशम मे सम्यग्ज्ञान और तप म प्रगति होती है।

१८ वादित्व—इस ऋद्धि से मुनि शक्र क पक्ष को भी बहुत वाद से कर सकते हैं।

विक्रिया ऋद्धि के भेद

अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशत्व, वशित्व अप्रतिघात अन्तर्धान और कामरूप।

१ अणिमा—अणु प्रमाण शरीर को करना, इसक द्वारा महर्षि अणु प्रमाण छिद्र म प्रविष्ट होकर चक्रवर्ती के कटक और निवेश की रचना कर सकते हैं।

२ महिमा—इससे मेरु के प्रमाण शरीर बनाया जा सकता है।

३ लघिमा—इसके द्वारा वायु स भी लघु शरीर बन सकता है।

४ गरिमा—इसके द्वारा वज्र से भी अधिक गुरुतायुक्त शरीर बनाया जा सकता है।

५ प्राप्ति—भूमि पर खडे रहकर अगुली से मेरु सूर्य-चन्द्रादि को छू लेना।

६ प्राकाम्य—इसके बल से जल के समान पृथ्वी पर निमज्जनादि और जल में पृथ्वी के समान गमन आदि किया जा सकता है।

७ ईशित्व—इसके बल से सब जगत् पर प्रभुता होती है।

८ वशित्व—इससे सभी जीव समूह वश मे हो जाते हैं।

९ अप्रतिघात—इस ऋद्धि क बल स शैल शिला या वृक्षादि के मध्य म होकर आकाश क समान गमन करना।

१० अतर्धान—इसके बल से अदृश्यता प्राप्त होती है।

११ कामरूपित्व—इसके द्वारा युगपत् अनेक रूप बना सकते हैं।

क्रिया ऋद्धि के २ भेद

आकाशगामित्व और चारणत्व।

१ आकाशगामित्व—इस ऋद्धि से कायोत्सग य

२ वचनबल—इस ऋद्धि के प्रभाव से साधु श्रमरहित और अहीन कण्ठ होते हुए अन्तर्मुहूर्त के भीतर सम्पूर्ण द्वादशांग रूप श्रुत का उच्चारण कर लेते हैं।

३ कायबल—इस ऋद्धि से ऋषि मास चारमास आदि रूप कायोत्सर्ग करते हुए भी श्रम रहित रहते हैं। तथा तीनों लोकों को कनिष्ठा अंगुली पर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने के लिए समर्थ होते हैं।

औषधि ऋद्धि के ८ भेद

आमर्शौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्लौषधि मलौषधि विप्रौषधि सर्वौषधि मुखनिर्विष और दृष्टिनिर्विष।

१ आमर्शौषधि—इस ऋद्धि वाले मुनि के हाथपैरादि के स्पर्शमात्र से प्राणी नीरोग हो जाते हैं।

२ क्ष्वेलौषधि—इस ऋद्धिधारी मुनि का लार कफ, अक्षिमल और नासिकामल जीवों के रोगों को नष्ट कर देता है।

३ जल्लौषधि—इस ऋद्धि वाले मुनि का स्वेद–पसीना जीवों के रोगों का नाश कर देता है।

४ मलौषधि—इस ऋद्धि से मुनियों का जिह्वा ओठ दांत, श्रोत्रादि का मल भी जीवों के समस्त रोगों को नष्ट कर देता है।

५ विप्रौषधि—इस ऋद्धि वाले मुनियों के मूत्र विष्ठा भी जीवों के भयानक रोगों का नाश कर देते हैं।

६ सर्वौषधि—इस ऋद्धि वाले मुनियों का स्पर्श किया हुआ जल व वायु तथा रोम और नख आदि भी व्याधि के हरने वाले हो जाते हैं।

७ मुखनिर्विष—जिसके प्रभाव से मुनियों के वचन मात्र से तिक्त रस से व विष से युक्त विविध प्रकार का अन्न निर्विषता को प्राप्त हो जाता है। वह वचननिर्विष ऋद्धि है। अथवा ऐसे मुनि के वचनमात्र सुनते ही व्याधियुक्त मनुष्य स्वस्थ हो जाते हैं।

८ दृष्टिनिर्विष—रोग और विष से युक्त जीव जिस ऋद्धि वाले मुनि के द्वारा देखने मात्र से ही नीरोग हो जाते हैं वह दृष्टिनिर्विष ऋद्धि है।

रसऋद्धि के ६ भेद

आशीर्विष दृष्टिविष क्षीरस्रवी मधुस्रवी अमृतस्रवी और सर्पिस्रवी।

आशीविष–जिस शक्ति से दुद्धर तप से युक्त मुनि द्वारा 'मर जावो' इस प्रकार कहने पर जीव सहसा मर जाता है वह आशीविष ऋद्धि है।

अथवा विष से पूर्ण जीवों के प्रति निर्विष हो। इस प्रकार निकला हुआ जिनका वचन जीवों को जिलाता है व्याधिवेदना और दारिद्रय आदि विनाश हेतु निकला हुआ वचन उस उस काय को करता है वे भी आशीविष हैं। तप के प्रभाव से इस प्रकार की शक्ति युक्त होते हुए भी वे साधु जीवों का निग्रह व अनुग्रह नही करते हैं।[1]

२ दृष्टिविष—इस ऋद्धि से रोषयुक्त मुनि के द्वारा सहसा देखने मात्र से जीव मर जाता है। अथवा इसमें भी पूर्वोक्त शुभ अर्थ करना कि जिससे मुनि के प्रेम या करुणा पूर्वक देखने मात्र से जीव जीवित हो जाता है।[2]

३ क्षीरस्रवी—मुनि के हस्ततल पर आये हुए रूक्ष आहार आदि तत्काल ही दुग्धरूप हो जावें अथवा जिनके वचन सुनने से मनुष्य तिर्यंचादि के दुःख शान्त हो जावें।

४ मधुस्रवी—जिनके बल से मुनि के हाथ में रखते ही रूक्ष आहारादि मधुर रस युक्त हो जावें। अथवा जिनके वचन से मनुष्यादिकों के दुःख नष्ट हो जावें।

५ अमृतस्रवी—जिस ऋद्धि से मुनि के हाथ में आये हुए रूक्षाहारादि अमृतमय हो जावें अथवा जिनके वचन श्रवण से तत्काल ही दुःखादि नष्ट हो जावें।

६ सर्पिस्रवी—जिसके प्रभाव से हस्ततल में निक्षिप्त आहार घृतरूप हो जावे, अथवा जिनके वचन सुनने से जीवों के दुःखादि शांत हो जावें।

क्षेत्र ऋद्धि के २ भेद

अक्षीणमहानसिक और अक्षीणमहालय।

१ अक्षीणमहानसिक—जिसके प्रभाव से मुनि के आहार से शेष भोजनशाला में रखे हुए अन्न में से जिस किसी भी प्रिय वस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी जीम जावे तो भी वह लशमात्र क्षीण—कम नहीं होती है।

---

१ जेसिं वयण थावरजंगमविसपूरिदजीव पडुच्च णिव्विसा होदु त्ति णिस्सरिदं त जीवावदि वाहिवेयणादालिद्दादिविलय पडुच्च णिप्पडिद सत त कज्ज करेदि त वि आसीविसात्ति उत्त होदि। तवोबलेण एवविहसत्तिसजुत्त वयणा होदूण जे जीवाणं णिग्गहाणुग्गह ण कुणति ते आसीविसा त्ति घेतव्वा। —धवला पु० ९ प० ८५ ८६

२ एव दिट्ठि अमियाण पि जाणिदूण लक्खण वत्तव्व। —धवला पु० ९ प० ८६

सूक्ष्म पदार्थों का ग्रहण करता है पुनः आकर मुनि के शरीर में वापस प्रविष्ट हो जाता है। और मुनि का संदेह दूर हो जाता है। अन्य वंदना आदि के निकलने से उन्हें वंदना आदि का आनन्द प्राप्त हो जाता है।

तैजस ऋद्धि— तपोविशेष से तैजस शरीर भी प्रगट होता है। अर्थात् तपो विशेष से ऋद्धि की प्राप्ति होती है। इस लब्धि के निमित्त से तैजस शरीर भी होता है। इसके दो भेद हैं—निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक[2]। औदारिक वैक्रियिक और आहारक शरीर में दीप्ति करने वाला अनिःसरणात्मक है। निःसरणात्मक तैजस उग्रचारित्रवान्, अतिक्रोधी यति के शरीर से निकलकर जिसपर क्रोध है, उसे पत्थर साग की तरह पका देता है फिर वापस यति के शरीर में समा जाता है। यदि अधिक देर ठहर जाय तो उसे भस्मसात् कर देता है।

अन्यत्र इस तैजस के शुभ और अशुभ एसे दो भेद किये हैं।

अशुभ तैजस—किसी कारण क्रोध उत्पन्न हो जाने पर संयम के निधान महामुनि के बाएँ कन्धे से सिन्दूर के ढेर जैसी कान्तिवाला बारह योजन लम्बा (९६ मील) सूच्यंगुल के संख्यातवें भागमात्र मूलविस्तार और नौ योजन (७ मील) अग्र विस्तार वाला काहल (बिलाव) के आकार का धारक पुतला निकल करके बायीं प्रदक्षिणा देकर मुनि को जिस पर क्रोध है उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे द्वीपायन मुनि के शरीर से पुतला निकलकर द्वारिका नगरी को भस्म करके द्वीपायन मुनि को भी भस्म करके आप भी भस्म हो गया। यह अशुभतैजस समुद्घात है।

शुभतैजस—जगत् को रोग, दुर्भिक्ष आदि से दुःखी देखकर दया उत्पन्न होने से परम संयम निधान महा ऋषि के मूल शरीर को छोड़कर पूर्वोक्त देह प्रमाण सौम्य आकृति का धारक पुतला दायें कंधे से निकल कर दक्षिण प्रदक्षिणा करके रोग दुर्भिक्ष आदि को दूर कर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश कर जावे वह शुभतैजस समुद्घात है[3]।

विशेष—इन आहारक ऋद्धि और तैजसऋद्धि की अपेक्षा भी दिगम्बर मुनियों में भेद हो जाता है।

■

१ 'तैजसमपि' तत्त्वार्थ सूत्र ४८ अ० २।

२ तद्द्विविध—निःसरणात्मकमनिःसरणात्मकं च। —तत्त्वार्थवार्तिक पृ० १५३

३ बृहद्द्रव्यसंग्रह पृ० २५, २६।

और ज्ञानोपकरण आदि कुछ भी ग्रहण करना ही उचित है।[1]

श्रामण्य पर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया जा सकता ऐसा अत्यन्त मिला हुआ होते हुए भी 'यह शरीर पर द्रव्य होने से परिग्रह है। यह अनुग्रह योग्य नहीं है किन्तु उपेक्षा के ही योग्य है ऐसा समझने वाले मुनि शरीर से भिन्न अन्य परिग्रह को ग्रहण कैसे करेंगे? यह उत्सर्ग मार्ग है और आहार पिच्छी कमण्डलु आदि ग्रहण करना अपवाद मार्ग है। मतलब यह है कि सर्वपरिग्रह का त्याग ही श्रेष्ठ उत्सर्ग है। जो कुछ उपकरण रखना है वह उपचार है—अशक्यानुष्ठान है—अपवाद है।'[2]

सो ही स्पष्ट कहते हैं—

यथाजातरूप लिंग गुरुवचन विनय और सूत्र का अध्ययन, जिन मार्ग में ये उपकरण हैं।[3]

युक्ताहार विहार करने वाले अर्थात् आगम के अनुकूल आहार-विहार में प्रवृत्ति करने वाले साधु साक्षात् अनाहारी और अविहारी ही हैं।

उत्सर्ग और अपवाद का क्या अर्थ है?

शुद्धात्मा से अतिरिक्त अन्य बाह्य और अभ्यन्तर सभी परिग्रह का त्याग कर देना उत्सर्ग है। इसके निश्चयनय सर्वपरित्याग परमोपेक्षा संयम वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग ये सब पर्यायवाची नाम हैं।

इस उत्सर्ग संयम में असमर्थ हुए मुनि शुद्धात्मभावना के लिए सहकारीभूत प्रासुक आहार ज्ञानोपकरण आदि कुछ भी ग्रहण करते हैं। यह अपवाद है। इसके व्यवहारनय एकदेशपरित्याग अपहृतसंयम सराग चारित्र और शुभोपयोग ये पर्यायवाची हैं।[4]

और भी देखिये—यह चारित्र अपहृतसंयम–उपेक्षासंयम भेद से

---

१ छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२२॥

२ निश्चयेन देहान्निवसनपरित्याग एवोचितोऽन्यस्तूपचार एवेति।
—प्रव० टी० पृ० ५११

३ उपयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥२२५॥
—प्रवचनसार

४ प्रव० गा० २३० टीका।

सराग और वीतराग के भेद से अथवा शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है।

नियमसार मे भगवान् श्री कुंदकुंददेव ने चतुर्थ अधिकार म व्यवहार चारित्ररूप तेरह प्रकार के चारित्र का व्याख्यान किया है। पश्चात् निश्चयप्रतिक्रमण निश्चयप्रत्याख्यान निश्चयआलोचना, शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त परमसमाधि परमभक्ति इनका वणन करते हुए निश्चयपर मावश्यक का विवेचन किया है। अर्थात् निश्चयप्रतिक्रमण आदि शुद्धोप योगी मुनि क ही संभव हैं ऐसा स्पष्ट किया है चूंकि निर्विकल्प ध्याना वस्था में ही घटित होते हैं। देखिये—[2] परमापेक्षा सयम धारण करने वाले के निश्चयप्रतिक्रमण का स्वरूप होता है।

जो[3] साधु अगुप्ति भाव को छोडकर त्रिगुप्ति से गुप्त-रक्षित हैं, वे साधु ही प्रतिक्रमण हैं क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हो चुके हैं। अर्थात् वे त्रिगुप्ति से गुप्त निर्विकल्प परमसमाधि लक्षण से लक्षित अतिशय अपूर्व आत्मा का ध्यान करते हैं। इस हेतु से वे प्रतिक्रमणमय परमसयमी हैं और इसीलिए वे निश्चयप्रतिक्रमण स्वरूप हैं। ऐसे ही सवत्र समझना।

'व्यवहारनय'[4] की अपेक्षा से समता स्तुति वदना प्रत्याख्यानादि षट आवश्यक क्रिया से हीन श्रमण चारित्रभ्रष्ट है। और शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा परमअध्यात्मभाषा से उक्त निर्विकल्प समाधिस्वरूप परमावश्यक क्रिया स परिहीन श्रमण निश्चयचारित्रभ्रष्ट है।

---

१ तच्च चारित्रमपहृतसयमोपेक्षासयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोग शुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति। —प्रव टी प २६

२ परमोपेक्षासयमधरस्य निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप च भवति।
—नियमसार टी० प १६१

३ मत्ता अगुत्तिभाव तिगुत्तिगुत्तो हवइ जो साहू।
सो पडिक्कमण उच्चइ पडिक्कमणमओ हव जम्हा ॥८८॥
टीका— अगुप्तिभाव त्यक्त्वा त्रिगुप्तिगुप्तनिर्विकल्पपरमसमाधिलक्षणलक्षित अत्यपूवमात्मान ध्यायति यस्मात प्रतिक्रमणमय परमसयमी अतएव स च निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूपो भवतीति। —नियमसार

४ अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवन्दनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीण श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत् शुद्धनिश्चयेन परमाध्यात्मभाषयोक्त निर्विकल्पसमाधिस्वरूपपरमावश्यकक्रियापरिहीणश्रमणो निश्चयचारित्रभ्रष्ट इत्यर्थ। —नियमसार टीका प० २९९

अपवाद (सराग) निरपेक्ष उत्सर्ग (वीतराग चारित्र) श्रेयस्कर नहीं है।[1]

इसी प्रकार से अपवाद मार्ग द्वारा अल्पलेप को न गिनकर उसमें यथेष्ट प्रवृत्ति करने से उत्सर्ग रूप ध्येय से चूककर अपवाद में स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करता है तो भी असंयतजन के समान तप को अवकाश न मिलने से महान् लेप होता है अतः उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद भी श्रेयस्कर नहीं है।

जयसेनाचार्य भी इसी को बड़े सरल ढंग से कहते हैं—

यदि कोई कथंचित् औषधि पथ्य आदि सावद्य के भय से व्याधि पीड़ा आदि का प्रतीकार न करके शुद्धात्मा की भावना नहीं करता है तो उसके महान् कर्मबन्ध होता है। अथवा कोई प्रतीकार—इलाज में प्रवृत्ति करते हुए भी हरड के बहाने गुड खाने के समान इन्द्रियसुख की लम्पटता से संयम की विराधना करता है तब भी उसके महान् कर्मबन्ध होता है। इसलिये विवेकी साधु उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद को छोड़ देता है और शुद्धात्मभावनारूप अथवा शुभोपयोगरूप संयम की विराधना न करके औषधि पथ्य आदि के निमित्त से उत्पन्न हुए अल्पसावद्य को भी बहुत गुणों के समूहरूप ऐसा जो उत्सर्ग से सापेक्ष अपवाद है उसको स्वीकार करता है।

अभिप्राय यह है कि सराग और वीतराग दोनों चारित्र तभी तक होते रहते हैं जब तक पूर्णतया कषाय का अभाव होकर पूर्णतया वीतरागता नहीं आती है। इसलिये इन दोनों का परस्पर सापेक्ष रूप से धारण करना श्रेयस्कर है।

सरागी मुनि की चर्या

सकल परिग्रह के त्यागस्वरूप श्रामण्य के होने पर भी जो कषायांश के आवेश के निमित्त से केवल शुद्धात्मा में ही स्थित होने में असमर्थ हैं ऐसा श्रमण यदि अर्हंत भगवान् आदि में भक्ति करता है और प्रवचन में रत हुए जीवों के प्रति वात्सल्य करता है तो उसकी यह शुभयुक्तता ही शुभोपयोगी चारित्र है। यह शुभोपयोगी साधु श्रमणों के प्रति वन्दन-नमस्कार पूर्वक खड़ा हो जाना और पीछे चलना विनय करना तथा उनकी थकान दूर करना आदि करता है। यह सब राग

---

१ देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतया महान् लेपो भवति। तन्न श्रेयान् अपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः।—प्रवचनसार गा० २३१ अमृत च० टी० पृ० ५५३।

चर्या मे निषिद्ध नही है। दर्शन ज्ञान का उपदेश देना शिष्यो का ग्रहण करना और उनका पोषण करना अर्थात् उनके अशन, शयन आदि की चिन्ता रखना और जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना यह सरागी मुनियो की चर्या है। जो श्रमण हमेशा चतुर्विध श्रमण संघ का जीवों की विराधना से रहित (प्रासुक वस्तुओ से) उपकार करता है वह मुनि भी राग की प्रधानता वाला है। अर्थात् संघ के उपकार की यह प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनियो म ही होती है शुद्धोपयोगी मुनियो म कदापि नही। यदि कोई साधु अन्य साधुओ की वैयावृत्य म निमित्त जीवघात (आरम्भ या अप्रासुक औषधि आदि देना) करता है तो वह साधु नही है किन्तु अगारी हो जाता है क्योकि आरम्भ आदि काय श्रावको का ही धर्म है।

यद्यपि वैयावृत्ति आदि मे अल्प लप (अल्पसावद्य) होता है तो भी सागार अनागार चर्यायुक्त जैना का निरपेक्षता अनुकम्पा—बुद्धिपूवक उपकार करा। अर्थात् सागार और अनगारचर्या से युक्त जो श्रावक और तपोधन हैं उनका दयाभाव अर्थात् धर्मवात्सल्य पूर्वक उपकार करना चाहिये। यदि उसम अल्पसावद्य भी हो तो सावद्यलवो बहुपुण्यराशौ एक कणिका विष बहुत बडे समुद्र म कुछ बिगाड नही कर सकता है। किंचित् मात्र सावद्य दूषित नही है जैसे कि

---

१ अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥
टीका—सकलसंगसंन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वय
शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य शुभोपयोगि चारित्रं स्यात्।
वंदणणमंसणेहि अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥२४७॥
दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥
टीका— [illegible]
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥२४९॥
टीका—सा [illegible]
[illegible]
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०॥

मुर रुर

ल व ममान
सव उनके

होते हैं।
प्रधान है।
और शीत

निपालन
र करते
ाग का
र और

ौर
को
आ
क
म
ा

निष्कर्ष यही निकलता है कि छठे तक शुभोपयोग अवस्था ही है उसे सरागचारित्र कहते हैं। उससे आगे सातवें से लेकर बारहवें तक शुद्धोपयोग अवस्था है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल है[1]।

सरागचारित्र की विशेषता

जयधवला में प्रश्न यह हुआ है कि पुण्यकर्म के बांधने के इच्छुक देशव्रतियों को मंगल करना युक्त है किन्तु कर्मक्षय के इच्छुक मुनियों को मंगल करना युक्त नहीं है। आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि पुण्यबंध के कारणों के प्रति उन दोनों में कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् पुण्यबंध के कारणभूत कार्यों को जैसे देशव्रती करते हैं वैसे ही मुनि भी करते हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो जिस प्रकार यहाँ आप मंगल के परित्याग की बात कह रहे हैं वैसे ही उनके सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त होगा क्योंकि देशव्रत के समान सरागसंयम भी पुण्यबंध का कारण है।

यदि आप कहें कि सरागसंयम के परित्याग का प्रसंग प्राप्त है तो हो जावे सो भी बात नहीं है क्योंकि मुनियों के सरागसंयम के त्याग का प्रसंग प्राप्त होने से उनको मुक्तिगमन के अभाव का प्रसंग भी प्राप्त हो जावेगा।

यदि आप कहें कि सरागसंयम गुणश्रेणी निर्जरा का कारण है क्योंकि उससे कर्मबंध की अपेक्षा कर्मों की निर्जरा असंख्यातगुणी अधिक होती है। अतः सरागसंयम में मुनियों की प्रवृत्ति का होना योग्य है सो ऐसा भी निश्चय नहीं करना चाहिये, क्योंकि अरहंत नमस्कार भी तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा का कारण है, इसलिये सरागसंयम के समान उसमें भी मुनियों की प्रवृत्ति होती है[2]।

निष्कर्ष यह निकला कि सरागसंयम भी मुनियों के लिये उपादेय है और असंख्यात गुणी निर्जरा का कारण है। और भी कहा है—

---

१ तन्नतरमसंयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोग तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीणकषायांतगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग तदनन्तरं सयोग्ययोगीजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति।

—प्रवचन० टी० पृ० २०

२ जयधवला प्र० पु० पृ० ७ ८।

जब महाव्रती मुनियों के प्रति समय प्रतिपालन के जल के समान असंख्यातगुणित श्रेणी रूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव हैं¹ ?

विशेष—वर्तमान में छठे सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि ही होते हैं। इससे ऊपर के नहीं अतः इस समय साधुओं में सरागचर्या ही प्रधान है। हाँ उनके लिए ध्येय वीतराग चारित्र है। इस तरह सरागता और वीत रागता की अपेक्षा भी भेद हो जाता है।

संयम की अपेक्षा साधु में भेद

ईर्यासमिति आदि में प्रवृत्ति करने वाले मुनि उनका प्रतिपालन करने के लिए जो एकेन्द्रिय आदि प्राणियों की पीड़ा का परिहार करते हैं वह प्राणिसंयम है और इन्द्रियों के विषय शब्द आदिकों में राग का अभाव होना इन्द्रियसंयम है²। संयम के दो भेद हैं—उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम।

अपहृतसंयम

अपहृत संयम के तीन भेद हैं—उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य।

ज्ञान और चारित्र की क्रियाओं को अपने आधीन रखने वाला और उनके बाह्य साधन प्रासुक वसतिका तथा अन्न पुस्तक आदि मात्र को ही ग्रहण करने वाला जो संयमी उन प्रासुक वसतिका आदि में दैवात् आ जाने वाले जीव जन्तुओं के वियोग या उपघात आदि का विचार न करके स्वयं अपने को ही उनसे अलग रखकर उनकी रक्षा करता है वही उत्तम प्राणिपरिहाररूप अपहृतसंयमी कहा जाता है। ऐसे संयमी की साधुजन भी पूजा करते हैं³।

'जो साधु स्वयं अपने को ही उन जीवों से पृथक न रखकर अपने शरीरादि के ऊपर आकर पड़ने वाले उन जीवों को शास्त्रकथित पाँच गुणों से कोमल पिच्छी आदि के द्वारा मार्जन करके उनकी रक्षा करता है वह मध्यमप्राणिपरिहाररूप अपहृत संयमी होता है। उसको भी सत्पुरुष

---

१ पडियाजल व कम्म असंखसमयसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईण कुणो पाव ॥६०॥
—जय० ध०, प्र० पृ० ९८

२ तत्वार्थ वा० पृ० ५९६।

३ अनगार धर्मा० पृ० ४०८।

वही प्रेम की दृष्टि से देखते हैं।[1]

'जो साधु उस तरह की पीछी न मिलने पर उसके समान किसी भी दूसरी कोमल वस्तु से उन जीवों को शोधन करता है वह जघन्य प्राणि परिहाररूप अपहृत संयमी कहा जाता है। वह भी सत्पुरुषों के द्वारा आदरणीय है।[2]

यही बात अन्यत्र भी है— मृदु उपकरण से परिमार्जन करके जन्तुओं का परिहार करना मध्यम है और अन्य उपकरणों की इच्छा रखना जघन्य अपहृत संयम है[3]।

' इस अपहृत संयम के प्रतिपादनार्थ आठ प्रकार की शुद्धि का उपदेश दिया गया है। अर्थात् इन शुद्धियों के निमित्त से ही संयम की वृद्धि होती है।

भावशुद्धि, कायशुद्धि, विनयशुद्धि ईर्यापथशुद्धि, भिक्षाशुद्धि प्रतिष्ठापन शुद्धि शयनासनशुद्धि और वाक्यशुद्धि ये आठ शुद्धियाँ हैं[4]।

भावशुद्धि—कर्म के क्षयोपशम से जन्य मोक्षमार्ग की रुचि से जिसमें विशुद्धि प्राप्त हुई है और जो रागादि उपद्रवों से रहित है वह भावशुद्धि है। इसके होने से आचार उसी तरह चमक उठता है जैसे स्वच्छ दीवाल पर आलंबित चित्र।

कायशुद्धि—यह समस्त आवरण और आभरणों से रहित शरीर संस्कार से शून्य यथाजात मल को धारण करने वाली अंगविकार से रहित और सर्वत्र यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्तिरूप है। यह मूर्तिमान प्रशम सुख सदृश है। इसके होने पर न दूसरों को अपने से भय होता है और न अपने से दूसरों को अर्थात् उपयुक्त नग्नमुद्रा ही कायशुद्धि है।

विनयशुद्धि—अर्हंत आदि गुरुओं में यथायोग्य विनय रखना गुरुओं के प्रति सर्वत्र अनुकूल वृत्ति रखना यह सब विनयशुद्धि है[5]।

---

१ पिच्छिकादिना प्राणिपरिहरणम्। —अन० पृ० ४०८

२ यथोक्तप्रतिलेखनालाभे तत्समेन। —अन० पृ० ४०८

३ मृदुना प्रमृज्य जन्तून् परिहरतो मध्यमः उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः। —तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५९६

४ तस्य अपहृतसंयमस्य प्रतिपादनार्थः शुद्ध्यष्टकोपदेशो द्रष्टव्यः। तद्यथा अष्टौ शुद्धयः—भावशुद्धिः कायशुद्धिः विनयशुद्धिः ईर्यापथशुद्धिः भिक्षाशुद्धिः प्रतिष्ठापनशुद्धिः शयनासनशुद्धिः वाक्यशुद्धिश्चेति। —तत्त्वार्थवा० पृ० ५९७

५ सर्वत्रानुकूलवृत्तिः। —तत्त्वा० पृ० ५९७

ईर्यापथशुद्धि—सूर्यप्रकाश और इन्द्रिय प्रकाश मे अच्छी तरह देखकर गमन करना इधर-उधर देखते हुए अर्थात् शीघ्रतापूर्वक गमन नही करना आदि ईर्यापथशुद्धि है।

भिक्षाशुद्धि—आचारसूत्र कथित आहार का ग्रहण करना लोकगर्हित कुलो का वर्जन करते हुए प्रासुक आहार ढूँढना। दीन वृत्ति से रहित दीन अनाथ दानशाला विवाह यज्ञ आदि के भोजन का परिहार करना तथा निर्दोष आहार ग्रहण करना भिक्षाशुद्धि है।

प्रतिष्ठापनशुद्धि—मल मूत्र, नख, रोम नाकमल थूक आदि शरीरमल को निर्जन्तुक जगह का विलोकन करके क्षपण करना प्रतिष्ठापनशुद्धि है।

शयनासनशुद्धि—स्त्री क्षुद्र चोर जुआरी आदि जनो से वर्जित और शृगार विकार संगीत वाद्य नृत्य आदि से रहित स्थान में रहना। प्राकृतिक गिरि गुफा वृक्ष की खोह तथा शून्य मकानो म स्वयं छोडे गये या छुडाये गये मकानो म रहना जो कि अपने उद्देश्य से नही बने हुए हैं और अपने लिए कोई आरम्भ नही किया गया हो ऐसे वसतिका आदि में सोना बैठना शयनासनशुद्धि है[१]।

वाक्यशुद्धि—पृथ्वीकायिक आदि सम्बन्धी आरम्भ की प्रेरणा से वर्जित परुष निष्ठुर और परपीडाकारी प्रयोगो से रहित तथा व्रतशील आदि का उपदेश देने वाले सवत योग्य हितमित मधुर और मनोहर वचन प्रयोग करना ही वाक्यशुद्धि है।

वर्तमान काल में अपहृत संयम के पालन करने वाले ही साधु होते हैं वे सयम की वृद्धि के लिए यथायोग्य इन शुद्धियो का पालन करते हैं।

उपेक्षा सयम

देशकाल के विधान का जानने वाला और आत्मा तथा शरीर के भेदविज्ञान से युक्त उपेक्षा सयम का धारक यति मानसिक वाचिक और कायिक तीनो ही प्रकार के व्यापारो का अच्छी तरह निरोध करके तथा शरीर से सर्वथा ममत्व का त्याग करके उपद्रव करने वाले अथवा हिंस्र आदिक क्रूर जन्तुओ के द्वारा उपसर्ग किये जाने पर भी उनको किसी तरह का क्लेश न देते हुए समता परिणामो को धारण करता है। किसी भी पदार्थ को वह इष्ट या अनिष्ट [illegible] उसमें रागद्वेष नही

---

१ —तत्त्वा० प० ५९०

सूक्ष्मसांपरायचारित्र—दसवें गुणस्थान में उपशमश्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले जीव सूक्ष्म लोभ का वेदन करते हैं। वह सूक्ष्मसांपराय चारित्र है।

यथाख्यातचारित्र—चारित्रमोहनीय के सर्वथा उपशम हो जाने से ग्यारहवें गुणस्थान में अथवा क्षय हो जाने से बारहवें में तथा तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्र होता है।

इनमें से सामायिक और छेदोपस्थापनाचारित्र छठे गुणस्थान से नवम तक पाये जाते हैं। परिहारविशुद्धि छठे और सातवें में तथा सूक्ष्म सांपराय दसवें में और यथाख्यात चारित्र ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

विशेष—वर्तमान में सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र के धारक ही मुनि हो सकते हैं। इनकी अपेक्षा भी मुनियों में भेद हो जाता है।

•

९ जिनकल्पी और स्थविरकल्पीमुनि

जिनेंद्रदेव ने जिनकल्प और स्थविर कल्प ऐसे दो भेद किए हैं।

जिनकल्प—जो उत्तम संहननधारी हैं। जो पैर में कांटा चुभ जाने पर अथवा नेत्र में धूलि आदि पड़ जाने पर स्वयं नहीं निकालते हैं। यदि कोई निकाल देता है तो मौन रहते हैं। जलवर्षा होने पर गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार रहते हुए कायोत्सर्ग से स्थित हो जाते हैं। जो ग्यारह अंगधारी हैं धर्म अथवा शुक्लध्यान में तत्पर हैं अशेष कषायों को छोड़ चुके हैं मौनव्रती हैं और कंदरा में निवास करने वाले हैं। जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित निःस्पृही यतिपति जिन के समान हमेशा विचरण करते हैं वे ही श्रमण जिनकल्प में स्थित हैं।

स्थविरकल्प—जिनेंद्रदेव ने अनगार साधुओं का स्थविरकल्प भी बताया है। पाँच प्रकार के चेल—वस्त्र का त्याग करना अकिंचनवृत्ति धारण करना और प्रतिलेखन—पिच्छिका ग्रहण करना पाँच महाव्रतों को धारण करना स्थितिभोजन और एक भक्त करना भक्ति सहित श्रावक के द्वारा दिया गया आहार करपात्र में ग्रहण करना याचना करके भिक्षा नहीं लेना बारह प्रकार के तपश्चरण में उद्युक्त रहना, छह प्रकार की आवश्यक क्रियाओं का हमेशा पालन करना क्षितिशयन करना शिर के केशों का लोच करना, जिनवर की मुद्रा को धारण करना संहनन की अपेक्षा से इस दुषमा काल में पुर नगर और ग्राम में निवास करना। ऐसी चर्या करने वाले साधु स्थविरकल्प में स्थित हैं। ये वही उपकरण ग्रहण करते हैं कि जिससे चर्या—चारित्र का भंग नहीं होवे अपने योग्य पुस्तक आदि का ही ग्रहण करते हैं। ये स्थविरकल्पी साधु समुदाय संघ सहित विहार करते है। अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हुए भव्यों को धर्मोपदेश सुनाते हैं और शिष्यों का संग्रह तथा उनका पालन भी करते हैं।

इस समय संहनन अतिहीन है दुःषमकाल है और मन चंचल है फिर भी वे धीर वीर पुरुष ही हैं जो कि महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साही हैं।

पूर्व में—चतुर्थ काल में जिस शरीर से एक हजार वर्ष में जितने कर्मों की निर्जरा की जाती है इस समय हीनसंहनन वाले शरीर से एक

रूप में उत्पन्न हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है।'

इस प्रकार से जिनकल्प में स्थित साधु जिनकल्पी और स्थविरकल्प में स्थित स्थविरकल्पी कहलाता है। आज के युग में स्थविरकल्पी मुनि ही होते हैं क्योंकि उत्तमसंहनन नहीं है।

अन्यत्र भी कहा है—

---

१ दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥११९॥
जत्थ ण कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥१२०॥
जलवरिसणवाएहिं गमणे भग्गे य जम्म छम्मास।
अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥१२१॥
एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्तासेसकसाया मोणवई कंदरावासी ॥१२२॥
बहिरंतरगंथचुया णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥१२३॥
थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पंचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥१२४॥
पंचमहव्वयधरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्ता।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥१२५॥
दुविहतवे उज्जमणं छव्विहआवासएहिं अणवरयं।
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवरपडिबिंबपडिगहणं ॥१२६॥
संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरणयरगामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥१२७॥
उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स।
गहियं पुत्थयदाणं जोग्गं जस्स तं तेण ॥१२८॥
समुदायेण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए।
भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालणं गहणं ॥१२९॥
संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरण उच्छहिया ॥१३०॥
वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे ॥१३१॥

—भावसंग्रह

१ तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा ।
आइरियउवज्झायापवत्तथेरागणधरा य ॥१५५॥—मूलाचार

मूलसघ के बारे म कोई उल्लेख नही मिलता है कि यह कब कायम हुआ। ऐसा मालूम पड़ता है कि भगवान् महावीर का सघ जो उनके समय और उनके बाद में निग्रन्थ महाश्रमण के रूप मे प्रसिद्ध था। वही निग्रन्थ सघ ही अनेक भेद प्रभेदो के हो जाने पर स्वयं मूलसघ इस नाम से लोक म प्रसिद्ध हुआ।

उपर्युक्त चारो सघ मूलसघ के अन्तगत हैं। इस सघ के अन्तगत सात गणो के नाम मिलते हैं—देवगण सेनगण देशीगण सूरस्थगण बलात्कारगण क्राणूरगण और निगमान्वय। इन गणो के नामकरण मुनियों के नामान्त शब्दो से तथा प्रान्त और स्थान विशेष के कारण हुए हैं।[1]

नीतिसार में कहा है कि—

'श्री भद्रबाहु, श्रीचन्द्र जिनचन्द्र गृद्धपिच्छाचाय लोहाचाय एलाचार्य, पूज्यपाद सिहनदी जिनसेन वीरसेन गुणनदी समतभद्र श्रीकुभ शिवकोटि शिवायन विष्णुसेन गुणभद्र अकलकदेव सोमदेव प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र इत्यादि मुनि पुगवो के द्वारा रचित शास्त्र ही ग्रहण करने योग्य हैं और इनके अतिरिक्त (उपर्युक्त चार सघ के आचार्यों से अतिरिक्त) विसघ्य-परम्परा विरुद्ध जनो के द्वारा रचित ग्रन्थ साधु—अच्छे होकर भी प्रमाण नही हैं।

क्योंकि परम्परागत पूर्वाचार्यों के वचन सवज्ञ भगवान् के वचनो के सदृश हैं। उन्ही से ज्ञान प्राप्त करता हुआ अनगार साधु अखिल जनो में

कियत्यपि ततोऽतीते काले श्वेताबरोऽभवत।
द्राविडो यापनीयश्च काष्ठासघश्च मानत ॥९॥
गोपुच्छिक श्वेतवासा द्राविडो यापनीयक।
नि पिच्छश्चति पचैते जनाभासा प्रकीर्तिता ॥१०॥
स्वस्वमत्यनुसारेण सिद्धात व्यभिचारिण।
विरचय्य जिनेन्द्रस्य माग निर्भेन्यति ये ॥११॥
चतु सघे नरो यस्तु कुरुते भेदभावना।
स सम्यग्दशनातीत संसारे सचरत्यय ॥१२॥

—नीतिसार

1 जैनधमका प्रा० इतिहास, द्वि० भाग
—ले० परमानन्द शास्त्री, पृ० ५६।

मूलसंघ के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि यह कब कायम हुआ। ऐसा मालूम पड़ता है कि भगवान् महावीर का संघ जो उनके समय और उनके बाद में निर्ग्रन्थ महाश्रमण के रूप में प्रसिद्ध था। वही निर्ग्रंथ संघ ही अनेक भेद प्रभेदों के हो जाने पर स्वयं मूलसंघ इस नाम से लोक में प्रसिद्ध हुआ।

उपर्युक्त चारों संघ मूलसंघ के अन्तर्गत हैं। इस संघ के अन्तर्गत सात गणों के नाम मिलते हैं—देवगण सेनगण देशीगण सूरस्थगण बलात्कारगण क्राणूरगण और निगमान्वय। इन गणों के नामकरण मुनियों के नामान्त शब्दों से तथा प्रान्त और स्थान विशेष के कारण हुए हैं।[1]

नीतिसार में कहा है कि—

'श्री भद्रबाहु, श्रीचन्द्र जिनचन्द्र गृद्धपिच्छाचार्य लोहाचार्य एलाचार्य, पूज्यपाद सिंहनन्दी जिनसेन वीरसेन गुणनन्दी, समंतभद्र श्रीकुंभ शिवकोटि शिवायन, विष्णुसेन गुणभद्र अकलंकदेव सोमदेव प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र इत्यादि मुनि पुंगवों के द्वारा रचित शास्त्र ही ग्रहण करने योग्य हैं और इनके अतिरिक्त (उपर्युक्त चार संघ के आचार्यों से अतिरिक्त) विसंघ्य-परम्परा विरुद्ध जनों के द्वारा रचित ग्रन्थ साधु—अच्छे होकर भी प्रमाण नहीं हैं।

क्योंकि परम्परागत पूर्वाचार्यों के वचन सर्वज्ञ भगवान् के वचनों के सदृश हैं। उन्हीं से ज्ञान प्राप्त करता हुआ अनगार साधु अखिल जनों में

कियत्यपि ततोऽतीते काले श्वेताम्बरोऽभवत्।
द्राविडो यापनीयश्च काष्ठासंघश्च मानतः ॥९॥
गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः।
निःपिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥१०॥
स्वस्वमत्यनुसारेण सिद्धांतं व्यभिचारिणं।
विरचय्य जिनेन्द्रस्य मार्गं निर्भेदयन्ति ये ॥११॥
चतुःसंघे नरो यस्तु कुरुते भेदभावनां।
स सम्यग्दर्शनातीतः संसारे सञ्चरत्यय ॥१२॥

—नीतिसार

1 जैनधर्म का प्रा० इतिहास, द्वि० भाग

—ले० परमानंद शास्त्री, पृ ५९।

नवमी शताब्दी और दसवी शताब्दी के आचार्यों मे विजयसेन, महासेन सर्वनन्दि आदि ८९ आचार्यों का परिचय दिया है।

ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी के विद्वान् आचार्यों में अर्हनन्दि धर्मसेनाचार्य वादिराज दिवाकरनन्दि आदि १४७ मुनियों के जीवन पर और उनकी रचनाओ पर प्रकाश डाला है।

तेरहवी और चौदहवी शताब्दी के आचार्यों विद्वानो एवं कवियों के परिचय म कनकचन्द्रमुनीन्द्र आदि ९१ विद्वानो का वर्णन किया है। और उनकी रचनाओ पर प्रकाश डाला है।

पुन १५वी १६वी १७वी और १८वी शताब्दी के आचार्य भट्टारक तथा कवियो का परिचय देते हुए कवि रइधू भट्टारक पद्मनन्दि आदि ९० विद्वानो का इतिहास बताया है और उनके द्वारा रचित रचनाओ का वर्णन किया है।

भट्टारको की परपरा को बतलाते हुए सेनगण के कालानुक्रम से प्रारंभ किया है। उसमे चन्द्रसेन आर्यनन्दि, वीरसेन आदि से प्रारम्भ किया है। ये वीरसेनाचार्य सं० ८७३ मे हुए हैं। इन्होंने धवला टीका को पूर्ण किया है।

अत सं० ८७३ म भट्टारको की परम्परा प्रारम्भ करके सं० १९९९ तक ५२ आचार्यों का उल्लेख किया है।

पुन बलात्कार गण को प्राचीन सिद्ध करते हुए श्रीनन्दि श्रीचन्द्र आदि को लेकर धर्मभूषण पर्यन्त २७ भट्टारको (आचार्यों) का वर्णन किया है।

७ इनको सं० १०७० से १४४२ तक मे घटित किया है। आगे चल कर अमरकीर्ति आदि को लेकर देवेंद्रकीर्ति तक भट्टारको का वर्णन किया है। इनको सं० १५९८ से लेकर सं० १९७३ तक म घटित किया है। आगे और भी तमाम भट्टारको का वर्णन किया है।[1]

भट्टारक म नाम से आप यह न समझिये कि ये सभी वस्त्रधारी ही थे। ये परंपरागत गुरु क पट्ट पर आसीन आचार्यशिरोमणि थे। हाँ आगे कुछ वस्त्रधारी भट्टारक भी हुए हैं।

प्रवचनसार आदि ग्रन्थो म भगवान् को भट्टारक कहा है। श्रीवीरसेन स्वामी कषायप्राभृत के कर्ता गुणधर आचार्य को भट्टारक कहते हैं। जिन्होंने[2] इस आर्यावर्त में अनेक गुणो से युक्त उज्ज्वल और अनन्त

१ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास द्वि० भाग।
२ जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जलं अणंतत्थं।
गाहाहिं विवरियं तं गुणहरभडारयं वंदे ॥६॥—कसायपा० पु० प्र० पृ० ४

अर्थों से व्याप्त कषायप्राभृत का गाथाओं द्वारा व्याख्यान किया है उन गुणधर भट्टारक को मैं वारंवार आनाय नमस्कार करता हूँ।' और भी अनेकों उदाहरण आगम में भरे हुए हैं।

सं० १२६४ में वसंतकीर्ति आचार्य हुए हैं। शायद इन्होंने वस्त्र धारण की प्रथा डाली है ऐसा कथन भट्टारक संप्रदाय पुस्तक में आया है।[1]

"पुनः आगे स्पष्टतया कहा है कि सं० १५७२ में यशःकीर्ति के शिष्य ललितकीर्ति हुए हैं जो कि नैर्ग्रन्थ्य रूप आर्हत मुद्रा को धारण करने वाले थे।[2]

कहने का अभिप्राय यही है कि अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु के अनंतर आचार्य गुणधर आदि से लेकर आज तक दिगंबर मुनि होते आये हैं और पंचम काल के अंत तक वीरांगज नाम के मुनि होंगे। श्री गौतम स्वामी भी पंचम काल में ही मोक्ष गये हैं। ऐसा नियम है कि पंचम काल में जन्म लेनेवाले जीव पंचमकाल में मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं किन्तु चतुर्थ काल में जन्मे हुए पुरुष पंचम काल में मोक्ष जा सकते हैं। क्योंकि पंचम काल के प्रारंभ होने में जब तीन वर्ष आठ माह और एक पक्ष मात्र काल बाकी रह गया था तब भगवान् महावीर मोक्ष गये हैं। और उसी दिन गौतम स्वामी को केवलज्ञान हुआ था। अनंतर बारह वर्ष बाद वे मोक्ष गये हैं।

वर्तमान में कुन्दकुन्दान्वय का अतीव महत्त्व है प्रशस्ति या गुरुपरंपरा में 'कुन्दकुन्दाम्नाये मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे' इत्यादि रूप से ही मूर्तियों में या ग्रन्थों में प्रशस्तियाँ रहती हैं। ये कौन हैं ? पढ़िये—

■

---

१ भट्टारकसंप्रदाय पृ० ९३।

२ तत्पट्टे परमाल्यया मुनियशःकीर्तिश्च भट्टारको।
नैर्ग्रन्थ्यं परमाहृतं श्रुतबलाज्ज्ञानाय निर्गेपन ॥
सर्पिर्दुग्धदधीगुडप्रमखिल पंचापि यावद् रसान्।
त्यक्त्वा जन्ममय तदुग्रमकरोत् कर्मक्षयार्थं तपः ॥६८॥

—भट्टारक सं० पृ० २३०

३ कुन्दकुन्द आदि आचार्य

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी मूलसंघ के अग्रणी आचार्य हैं यही कारण है कि वर्तमान में मंगलहेतु कुंदकुंद का नाम गौतमस्वामी के अनंतर लिया जाता है। विद्वानों के निर्णयानुसार इनका जन्म दक्षिण भारत में माना गया है। कौण्डकुन्दपुर नामक ग्राम में कर्मण्डु की पत्नी श्रीमती के गर्भ से इनका जन्म हुआ है। इनके समय के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है।

नंदीसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ९५ वर्ष १० महीने १५ दिन की थी।'

'कुन्दकुन्द स्वामी की परम्परा वाले मूलसंघ को अर्हद्बलि आचार्य ने चार संघ में विभक्त किया ऐसा भी एक शिलालेख में कथन है'।

तथा कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने बोधपाहुड में स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहकर उनका जयघोष किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये भद्रबाहु श्रुतकेवली के अनंतर ही हुए हैं। यथा—

जिनेन्द्रदेव—भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषासूत्रों में शब्द विकार को प्राप्त हुआ—शब्दों में ग्रथित हुआ। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उन भाषासूत्रों को उसी रूप से जाना है और कथन किया है। जो बारह अंग के ज्ञाता हैं चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करने वाले हैं। ऐसे श्रुतकेवली भद्रबाहु गमकगुरु भगवान् जयवन्त होवें[२]।

---

१ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
—श्रवणबेलगोल के १०५ नं० का शिलालेख

२ बोधपाहुड गा० [illegible]।

'नदीसंघ की पट्टावली मे भी—' भद्रबाहु द्वितीय (४) २ गुप्तिगुप्त (२६), ३ माघनदी (३६), ४ जिनचद्र (४०) ५ कुदकुदाचाय (४९) ६ उमास्वामी (१०१) इत्यादि। इसमे भी भद्रबाहु का परम्परा शिष्य कुन्द कुन्द को कहा है[1]। इनकी परम्परा व समय के विषय म विशेष जिज्ञासु विद्वानों की कृतिया का अवलोकन करें[2]।

इसके विषय में विदेह क्षेत्र म गमन चारण ऋद्धि प्राप्ति पाषाण की देवी को बुलवाना आदि कई बातें प्रसिद्ध हैं। और पट्टावली मे इनके पांच नाम माने हैं उनका भी कई जगह समथन है। पाँच नाम—

आचाय कुदकुदाख्यो वक्रग्रीवो महामति।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ पद्मनदीति तन्नुति॥

कुदकुद वक्रगीव एलाचाय, गृध्रपिच्छ और पद्मनदी ये पाच नाम हैं।

वि० स० ९९० म विद्यमान देवसेन आचाय न दशनसार में इनके विदेहगमन की बात कही है। यथा—

यदि पद्मनंदी स्वामी सीमधर स्वामी के दिव्यज्ञान से सम्बोधन न प्राप्त करत तो श्रमण सुमाग को कसे जानते[3] ?

श्री जयसनाचाय ने पचास्तिकाय प्राभृत क प्रारम्भ म कहा है—

जो श्री कुमारनदि सैद्धांतिक देव के शिष्य हैं प्रसिद्ध कथा के न्याय से पूर्वविदेह में जाकर, वीतराग सवज्ञ सीमधरस्वामी तीथकर परमदेव का दशन करके और उनके मुख कमल से विनिगत दिव्यध्वनि के श्रवण स अवधारित पदाथ समूहा स ज्ञान को प्राप्त कर आत्मतत्त्व आदि सारभूत अथ को ग्रहण करके पुन यहाँ आये ऐसे श्रीमान् कुन्दकुन्दाचाय

---

१ तीथकर महावीर और उनकी आचाय परम्परा।
—पु ४ पृ० ४४१।

२ आचाय कुन्दकुन्द और उनका समयसार।
—डा० लालबहादुर शास्त्री एम०ए

तीथकर महावीर और उनकी आचाय परम्परा।
—डा नमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचाय

जनधम का प्राचीन इतिहास द्वि० भाग।
—प० परमानन्द शास्त्री

३ जइ पउमणन्दिणाहो सीमधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्ग पयाणंति॥४३॥
—दशनसार

उनमे आगमशु का समय ई० सन् प्रथम शताब्दी और नागहस्ति का समय ई सन् १०० १५० तक माना गया है। यही इनका समय निश्चित होता है। कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी मानने वालों ने यतिवृषभ को कुन्दकुन्द का पूर्व का माना है[1]।'

शिवकोटि आचार्य

शिवार्य (शिवकोटि आचार्य) भगवती आराधना के कर्ता हैं। इनका समय कुछ विद्वान् उमास्वामी से पूर्व का निर्णय करते हैं।

उमास्वामी आचार्य

इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की है। मूलसंघ की पट्टावली में कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उमास्वामी ४० वर्ष ८ दिन तक नन्दिसंघ के पट्ट पर रहे हैं। श्रवणबेलगोल के ६५ वें शिलालेख मे इन्हें कुन्दकुन्द के पट्ट पर माना है।

तस्यान्वये भूविदिते बभूव य पद्मनन्दिप्रथमाभिधान ।
श्रीकुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्य सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धि ॥५॥
अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ ।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी[2] ॥६॥

इन्हीं का अपरनाम गृध्रपिच्छाचार्य भी है। अन्यत्र पट्टावली में भी कहा है।— श्री कुन्दकुन्द के पवित्र आम्नाय मे उमास्वाति आचार्य हुए। प्राणी रक्षा मे तत्पर इन्होंने गृध्र के पंखों को धारण किया तभी से ये गृध्रपिच्छाचार्य कहलाये हैं। इनकी परम्परा म (पट्टपर) महर्द्धिशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुए हैं। इनके शरीर के संसर्ग से विषमयी हवा भी उस समय अमृत (निर्विष) हो जाती थी[3]।

---

१ तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पु० २ पृ० १०७।
२ जनधम का प्राचीन इतिहास भाग २, पृ० ८७।
३

श्रीकुन्दकुन्देतिसंज्ञ ।
अभूदुमास्वातिमुनि पवित्र वंशे तदीये ॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृध्रपक्षान् ।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छ ॥१२॥
तदन्वये भूदुपोमिकुलप्रदीपो बलाकपिच्छ स तपोमहर्द्धि ।
यस्तदङ्गसङ्गमात्रतोऽपि वायुर्विषादीनमृतीचकार ॥१३॥

—तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पु० ४, पृ० ४११

समन्तभद्राचार्य

श्री समन्तभद्र स्वामी को श्रवणबेलगोला की पट्टावली में उमास्वामी के शिष्य के पट्ट पर माना है। इनके बाद श्री समन्तभद्र स्वामी हुए हैं[1]।

श्रवणबेलगोल के अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि— भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य चन्द्रगुप्त इनके वंशज पद्मनन्दि अपरनाम कुन्दकुन्द मुनिराज, इनके वंशज गृद्धपिच्छाचार्य इनके शिष्य बलाकपिच्छाचार्य और उनके समन्तभद्र हुए[2]।

बहुत कुछ विद्वानों ने ऊहापोह करके ईस्वी सन् का प्रथम या द्वितीय शताब्दी में इनके होने का अनुमान किया है[3]।

दक्षिण भारत के उरगपुर (उरैपुर) में चोल राजवंश के राजा के ये पुत्र थे ऐसा एक आप्तमीमांसा प्रति के अन्त में लिखा हुआ है— इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्[4] इससे स्पष्ट है कि ये क्षत्रियवंशी थे।

मुनिदीक्षा के पश्चात् इन्हें भस्मक व्याधि हो जाने से गुरु से समाधि मरण की आज्ञा मांगी किन्तु गुरु ने इन्हें भविष्णु जानकर आदेश देते हुए कहा कि आपसे धर्म और साहित्य की बड़ी-बड़ी आशायें हैं अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग शमन का उपाय करें। रोग दूर होने पर पुनः दीक्षा

---

१ " बलाकपिच्छ स तपोमहर्द्धि। ॥१३॥
समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्॥१३॥
—तीर्थंकर महावीर और उनकी आ० पु० ४ पृ ४११

२ श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः।
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्तिकीर्तिः॥
चारित्रचुञ्चुरखिलावनिपालमौलि—
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः॥
एवं महाचार्यपरम्परायां स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशः समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः॥
—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २ पृ० १००

३ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २ पृ० १८१।

४ श्रवणबेलगोला के दौरबलि जिनदासशास्त्री के भण्डार में यह प्रति है।
—तीर्थंकर म० और उ०, भाग २ पृ० १७४

समन्तभद्राचार्य

श्री समन्तभद्र स्वामी को श्रुतमुनि की पट्टावली में उमास्वामी के शिष्य व पट्ट पर माना है। इनके बाद श्री समन्तभद्र स्वामी हुए हैं[1]।

श्रवणबेल्गोल के अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि— भद्रबाहु श्रुतकेवली के शिष्य चन्द्रगुप्त इनके वंशज पद्मनन्दि अपरनाम कुन्दकुन्द मुनिराज, इनके वंशज गृद्धपिच्छाचार्य इनके शिष्य बलाकपिच्छाचार्य और उनके समन्तभद्र हुए[2]।

बहुत कुछ विद्वानों ने ऊहापोह करके ईस्वी सन् की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में इनके होने का अनुमान किया है[3]।

दक्षिण भारत के उरगपुर (उरैपुर) में चोल राजवंश के राजा के ये पुत्र थे ऐसा एक आप्तमीमांसा प्रति के अन्त में लिखा हुआ है— 'इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनो श्रीस्वामिसमंतभद्रमुने कृतो आप्तमीमांसायाम्' इससे स्पष्ट है कि ये क्षत्रियवंशी थे।

मुनिदीक्षा के पश्चात् इन्हें भस्मक व्याधि हो जाने से गुरु से समाधिमरण की आज्ञा मांगी किन्तु गुरु ने इन्हें भविष्णु जानकर आदेश देते हुए कहा कि आपसे धर्म और साहित्य की बड़ी-बड़ी आशायें हैं अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग शमन का उपाय करें। रोग दूर होने पर पुनः दीक्षा

---

१ बलाकपिच्छः स तपोमहर्द्धिः । ॥१३॥
समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्॥१३॥
—तीर्थंकर महावीर और उनकी आ० पु० ४ पृ० ४११

२ श्रीगृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः ।
शिष्योऽजनिष्ट भुवनत्रयवर्त्तिकीर्तिः ॥
चारित्रचुञ्चुरखिलावनिपालमौलि—
मालाशिलीमुखविराजितपादपद्मः ॥
एवं महाचार्यपरम्परायां स्यात्कारमुद्राङ्कितत्त्वदीपः ।
भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनि वादिसिंहः ॥
—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २ पृ० १००

३ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २ पृ० १८१।

४ श्रवणबेलगोला के दौरबलि जिनदासशास्त्री के भण्डार में यह प्रति है।
—तीर्थंकर म० और उ० भाग २, पृ० १७४

पूर्ण कृति है। उमास्वामी आचार्य के तत्वार्थसूत्र के मंगलाचरण—

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये ॥'

इस श्लोक के ऊपर ११४ कारिकाओं में आप्त की मीमांसा-समीक्षा करते हुए सच्चे आप्त का निर्णय किया है। इसी आप्तमीमांसा के ऊपर श्री अकलंकदेव ने 'अष्टशती' नाम का भाष्य बनाया है और उस भाष्य को वेष्टित करके श्री विद्यानन्द आचार्य ने 'अष्टसहस्री' नाम की टीका की है जो कि जैनदर्शन में सर्वोपरि ग्रंथ माना जाता है। इसका हिन्दी भाषा में अनुवाद करते हुए मैंने यह अनुभव किया है कि स्याद्वादमय सप्तभंगी का जितना विस्तृत और सुन्दर विवेचन है उतना विस्तृत विवेचन वर्तमान के उपलब्ध अन्य ग्रन्थों में नहीं पाया जाता है। इस प्रकार इन आचार्य ने अपने युग में अतीव महान् कार्य करके वर्तमान के युग को एक विशेष देन दी है।

सिद्धसेनाचार्य

कवि और दार्शनिक के रूप में सिद्धसेन प्रसिद्ध हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परायें इन्हें अपना अपना आचार्य मानती हैं। आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में इन्हें बैसा आदर दिया है। यथा—

कवयः सिद्धसेनाद्या वयं च कवयो मताः।
मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः ॥३९॥
प्रवादिकरियूथानां केसरी नयकेसरः।
सिद्धसेनकविर्जीयात् विकल्पनखरांकुरः[1] ॥४२॥

पूर्व में सिद्धसेन आदि अनेक कवि हो गये हैं और मैं भी कवि हूं। पर दोनों में इतना ही अन्तर है जितना कि पद्ममणि और काच में होता है। जो प्रवादीरूपी हाथियों के समूह के लिए सिंह के समान हैं। नगम आदि नय ही जिनके केसर—अयाल तथा अस्ति-नास्ति आदि विकल्प ही जिनके तीक्ष्ण नाखून थे ऐसे वे सिद्धसेन कवि जयवन्त होवें।

इनका समय कुछ विद्वानों ने विक्रम स० ६२५ के लगभग माना है।[2] 'सन्मति टीका के प्रारम्भ में अभयदेवसूरि (१२वीं शती ई०)

---

१ आदि पु० प० १ पृ० ।
२ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग २ प० २११

ने भी इहें स्वीकार किया है।

इनकी दो रचनायें प्रसिद्ध हैं—सन्मतिसूत्र और कल्याणमन्दिरस्तोत्र। सन्मतिसूत्र की गाथायें तो धवला जयधवला टीका में भी पाई जाती हैं और कल्याणमन्दिर स्तोत्र भी भक्तामर स्तोत्र जैसा प्रभावशाली सम त्कारिक है। बल्कि यह भक्तामर से पूर्व की रचना है।

इन आचार्य के विषय में भी ऐसा एक अतिशय प्रसिद्ध है—सेनगण की पट्टावली में निम्न वाक्य कहा है—

(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकालसंस्थापनमहाकालर्लिंगमहीधरवाग्वज्रदण्डविष्ट्याविष्कृत श्री पार्श्वतीर्थेश्वर प्रतिद्वंद्व श्रीसिद्धसेनभट्टारकाणाम् ॥१४॥[1]

उज्जयिनी नगरी में महाकाल मन्दिर में संस्थापित महाकाल (रुद्र) के लिंग रूपी पर्वत को अपने वचनरूपी वज्रदण्ड के द्वारा स्फोटित करके पार्श्वनाथ तीर्थंकर के बिंब को प्रगट करने वाले श्री सिद्धसेन भट्टारक की जय होवे।

ऐसा ही लेख श्वेताम्बरों के यहाँ कई स्थल पर है—पट्टावली सारो द्धार में— 'तथा सिद्धसेनदिवाकरोऽपि जातो येनोज्जयिन्यां महाकाल प्रासादे रुद्रलिंगस्फोटनं कृत्वा कल्याणमंदिरस्तवनेन श्री पार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृत्य श्रीविक्रमादित्यराजापि प्रतिबोधित श्रीवीरनिर्वाणात् सप्तति वर्षाधिकशतचतुष्टये ४७० विक्रम श्रीविक्रमादित्यराज्यं संजात।[3]

कवि वृन्दावन इस विषय में सभा में वाद विवाद के प्रसङ्ग में श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रगट हुई कहते हैं—

श्रीमत कुमुदचन्द्र मुनिवर सों वाद परयो जहं सभा मंझार।
तबहीं श्री कल्याणधामथुति श्रीगुरु रचना रची अपार॥
तब प्रतिमा श्रीपार्श्वनाथ की प्रगट भई त्रिभुवन जयकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघन हरण मंगल करतार॥७॥

पूज्यपादाचार्य

कवि वैयाकरण और दार्शनिक इन तीनों व्यक्तियों का एकत्र सम वाय देवनन्दि पूज्यपाद में पाया जाता है। श्रवणबेलगोल के शिलालेखों

---

१ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भा० २ पृ० २०७

२ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भा० २ पृ० २००

३ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भा० २ पृ० २०७

मे इनके नामा के सम्बन्ध म उल्लेख मिलते हैं। यथा—[1]

या देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या च जिनेन्द्रबुद्धि ।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभियत्पूजित पादयुग यदीय ॥८॥
जने द्रे निजशब्दभोगमतुल सर्वार्थसिद्धि परा।
सिद्धाते निपुणत्वमुद्धकविता जनाभिषेक स्वक ॥
छन्दसूक्ष्मधिय समाधिशतकस्वास्थ्य यदीय विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिप पूज्यो मुनीना गण ॥९॥

अर्थात् जिनका देवनन्दी यह प्रथम नाम था कि तु बुद्धि की महत्ता के कारण जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवनाओ के द्वारा इनके पादयुगल पूजित होने स पूज्यपाद इस सार्थक नाम को प्राप्त हुए हैं। इन्होने जैनेंद्र व्याकरण सर्वार्थसिद्धि जैनाभिषेक छन्दग्रंथ समाधिशतक आदि ग्रथो की रचना की है।

देवकीर्तिपट्टावली म इस श्लोक के पूर्व ७ वें श्लोक म समतभद्र का नाम है। समतभद्र के पट्ट पर देवनन्दी को माना है। अर्थात् इस पट्टावली में भद्रबाहु श्रुतकेवली चद्रगुप्त कोन्दकुन्द गृद्धपिच्छाचार्य बलाकपिच्छ समतभद्र पूज्यपाद-देवनदि अकलक इत्यादि क्रम दिया गया है। श्रुतमुनि की पट्टावली में भी समन्तभद्र के बाद पूज्यपाद पुन अकलक देव ऐसा क्रम है।[3]

नन्दिसघ की पट्टावली में कुदकुन्द उमास्वामी लोहाचार्य यश कीर्ति यशोनन्दी इनके बाद देवनदि को लिया है। एव विक्रम स २५८ से ३०८ तक। इन्हे आचार्य पट्ट पर माना है।

श्रुतमुनि की पट्टावली म इनके बारे मे कहा है कि—

'श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि -
जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्र ।
यत्पादधौतजलसस्पर्शप्रभावा-
त्कालायस किल तदा कनकीचकार ॥१८॥'[4]

---

१ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भा २ पृ २१९।

२ यह अभिषेक पाठ सग्रह पुस्तक में छप चुका है। जो कि जयपुर ग्रन्थमाला समिति जयपुर से प्रकाशित है। इस अभिषेक पाठ को पढ़कर पंचामृताभिषेक से पंचामृताभिषेक के प्रति द्वेष रखने वालों को पक्षव्यामोह छोड़ देना चाहिए।

३ तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा-भा ४ पृ० ३८४।

४ तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परपरा-भा ४, पृ० ८४।

से रहित निर्मल कीजिए।

अनुश्रुति ऐसी भी प्रचलित है कि एक बार ऋद्धि क बल स आकाश मार्ग स आ रहे थ। मार्ग में सूर्य की तीक्ष्ण किरणों स अकस्मात् नेत्र ज्योति चली गई। आप नीचे उतरकर शान्तिनाथ के चैत्यालय में बैठकर शान्तिनाथ की स्तुति करन लगे आठवें श्लोक को बोलते ही आपकी नेत्र ज्योति ज्यों-की-त्यों वापस आ गई। पुन आपने साक्षात् नेत्रों स शान्तिनाथ का दर्शन करके गद्गद होकर शांतिजिनं शशिनिर्मलवक्त्रं इत्यादि रूप से स्तुति की जो कि आज शास्त्र क क साथ सम्मिलित है।

कुछ भी हो यह तो निश्चित हो है कि इनक नेत्र का तिमिर आदि रोग इस शांति भक्ति को करने में निमित्त अवश्य था।

इनकी रचनायें जो कि वर्तमान म उपलब्ध हैं—

दशभक्ति जैनाभिषेक सर्वार्थसिद्धि समाधितंत्र इष्टोपदेश जनेंद्र व्याकरण और सिद्धिप्रियस्तोत्र। इनम से—

दशभक्ति का पाठ तो साधुओ को नित्य नैमित्तिक क्रियाओ म आता ही है। उनम स जो प्राकृत दश भक्तियाँ हैं व कुन्दकुन्दाचार्य की बनाई हुई हैं और संस्कृत दश भक्तियाँ पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित हैं।

अन्य विद्वान् भी कहते हैं—

आपक जीवन की अनेक घटनायें हैं- (१) विदेहगमन, (२) घोर तपश्चरणादि क कारण नेत्र ज्योति का नष्ट हो जाना तथा शान्त्यष्टक क निर्माण से पुन उसकी संप्राप्ति (३) देवताओ द्वारा चरणों का पूजा जाना (४) औषधि ऋद्धि की उपलब्धि (५) पादस्पृष्ट जल से लोहे का सुवर्ण होना।

आपकी रचनाओ म वद्यक शास्त्र और सारसग्रह भी हैं। सारसग्रह के विषय में धवलाटीका म श्री वीरसेन स्वामी न कहा है कि— सार संग्रहेऽप्युक्त पूज्यपाद ।[1]

पूज्यपादस्वामी का समय वि० स० की पाँचवी शताब्दी है। क्योंकि आपक शिष्य वज्रनंदी ने वि० सं० ५२६ म (४६९ ईस्वी) द्रविड संघ की स्थापना की ऐसा दर्शनसार म कहा है। अत सभी विद्वान् इन्हे छठी शताब्दी का ही मानते हैं।

अकलंकदेव

मान्यखेट नगर क राजा शुभतुङ्ग के पुरुषोत्तम मन्त्री के दो पुत्र थे—

१ जनधम का प्रा० इतिहास दि० भाग पृ० ११८।

अकलंक और निकलंक। एक बार आष्टाह्निक पर्व में माता पिता के साथ मुनि के पास ब्रह्मचर्य व्रत लिया। यौवनावस्था में पिता के आग्रह से भी विवाह न कर आजन्म बाल ब्रह्मचारी रहे। अकलंक एकपाठी और निकलंक दो पाठी थे। बौद्धों के धमद्रव से निकलंक ने अपना बलिदान कर दिया। आप कलिंग देश के रत्नसंचयपुर में पहुंचे। वहाँ के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने आष्टाह्निकपर्व म अपना जैन रथ निकलवाने का निर्णय किया। शर्त यह हुई कि यदि कोई जैनगुरु शास्त्रार्थ मे बौद्धगुरु को पराजित कर दे तब जैन रथ निकल सकता है।[1]

रानी सकट के समय चतुराहार त्याग कर मदिर मे निश्चल बैठ गई। ध्यान के प्रभाव से अर्द्धरात्रि म पद्मावती देवी ने आकर बताया कि प्रात ही यहाँ अकलंक देव आयेंगे और व ही सघश्री बौद्धगुरु का दर्प चूर्ण करेंगे। रानी ने प्रसन्न होकर भगवान् की स्तुति की और प्रात होते ही महाभिषेक पूजन किया। प्रात एक उद्यान म उनके दर्शन करके निवेदन किया। अकलंकदेव ने शास्त्रार्थ प्रारंभ किया। बौद्धगुरु ने अपने वश का न समझकर अपनी इष्ट तारादेवी को घट म स्थापित कर दिया और पर्दा डाल दिया। अकलंकदेव तारादेवी को समझकर छह महीने तक शास्त्रार्थ करते रहे। अन्त म चक्रेश्वरी देवी के कहे अनुसार तारा देवी को पराजित करके जैनधर्म की अपूर्व प्रभावना की।

इनकी रचनायें—स्वोपज्ञविवृति सहित लघीयस्त्रय न्यायविनिश्चय सविवृति सिद्धिविनिश्चयसविवृति प्रमाणसग्रहसविवृति तथा टीका ग्रन्थ—तत्त्वार्थवार्तिकसभाष्य और अष्टशती हैं। इसका बनाया हुआ एक स्तोत्र भी अकलक[2] स्तोत्र नाम से प्रसिद्ध है।

इनके समय के बारे म भी विद्वान् एकमत नही है। जैनधर्म[3] के प्राचीन इतिहास मे परमानन्द शास्त्री ने इनका समय ईस्वी स० ७२० से ७८० सिद्ध किया है।

कई एक पट्टावलियों मे अकलंक देव को पूज्यपाद का उत्तराधिकारी सिद्ध किया है। श्रुतमुनि की पट्टावली म श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषर्द्धि इत्यादि १७ वें श्लोक के बाद—

---

१ आराधना कथा कोष के आधार से।

२ सहस्रनामटीका में

३ जैनधर्म का इतिहास द्वि० भाग पृ० १४९।

तत्र पर शास्त्रविन्मुनीनामग्रेसरोऽभूदकलङ्कसूरिः ।
मिथ्यान्धकारस्थगिताखिलार्थाः प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः ॥१७॥

अर्थात् पूज्यपाद स्वामी के बाद (उनके पट्ट पर) शास्त्रों के वेत्ता मुनियों में अग्रसर अकलंकदेव हुए हैं।[1]

दक्षकीर्ति पट्टावली में भी पूज्यपाद के अनंतर— ततश्च कहकर

अर्जा(?) प्टाकलक यज्जिनशासनमाप्ति ।
अकलंक बभौ यत्र माऽकलको महामति ॥१ ॥

पूज्यपाद की छठी शताब्दी निर्णीत हो जाने से इनको भी छठी या सातवीं शताब्दी मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

मानतुंगाचार्य

भट्टारक सकलचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारी रायमल्ल कृत भक्तामरवृत्ति में जो कि वि० सं० १६६७ में समाप्त हुई है लिखा है कि धाराधीश भोज की राजसभा में कालिदास भारवि माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंग ने ४८ सांकलों को तोड़कर जैनधर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जैनधर्म का उपासक बनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषणकृत भक्तामर चरित में भी इसी प्रकार बताया है कि आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्तोत्र के प्रभाव से अड़तालीस कोठरियों के ताले तोड़कर अपना प्रभाव दिखलाया।

इनके समय के बारे में भी विद्वानों की अनेक विचारधारायें हैं। एक विद्वान् इन्हें ईस्वी सन् ७ वीं शताब्दी का कहते हैं तो एक विद्वान् इन्हें ११वीं शताब्दी का कहते हैं। परमानन्द शास्त्री ने अपने जैनधर्म के प्राचीन इतिहास[2] में इन्हें ११वीं शताब्दी का ही निश्चित किया है।

भक्तामर स्तोत्र और भयहर स्तोत्र ये दो रचनायें इनकी मानी गई हैं। भक्तामर स्तोत्र तो इतना प्रसिद्ध और अतिशय पूर्ण है कि शायद ही कोई ऐसा दिगम्बर या श्वेताम्बर जन होगा जो कि इसे न जानता हो।

श्रीवीरसेनाचार्य

इसी प्रकार से आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम और कषायपाहुड ग्रन्थराज पर धवला और जयधवला नाम की टीकायें रची हैं। इनकी

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भा० ४ पृ० ४१२।
२ जैनधर्म का इतिहास द्वि० भाग पृ० १३४।

जिनगहिता म एक गा थ लिखत हैं—

पूज्यपादगुणभद्रसूरिभिवरूपाणिभिरपि प्रपूजिते ।
मत्ररद्धनमप्युग्गरिस ह्यस्तेऽत्र सरलपि कर्मणि ॥

इन सभी श्लोको स स्पष्ट हो जाता है कि जिनसन क शिष्य गुण भद्रसूरि ने यह अभिषक पाठ बनाया है।

आचाय विद्यानन्द

आचार्य विद्यानन्द भी एक महान् तार्किक विद्वान् हो चुक हैं। विद्वानो ने इनका समय ईस्वी सन् ७७५ स ८४० तक प्रमाणित किया है अत ये ई० स० नवमशती क आचाय हैं।

इनकी रचनाए—आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञविवृतिसहित प्रमाणपरीक्षा पत्रपरीक्षा सत्यशासनपरीक्षा श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र विद्यानन्द महोदय ये स्वतन्त्र कृतियाँ हैं और अष्टसहस्री तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक युक्त्यनुशासन ये टीका ग्रन्थ हैं।

देवसेनाचाय

य आचाय वि० सं० ९९० म हुए हैं। दर्शनसार भावसग्रह आलाप पद्धति लघुनयचक्र, आराधनासार और तत्त्वसार ये इनकी रचनाए प्रसिद्ध हैं। दर्शनसार में जनधम म अनेकों मत मतान्तर कब और कैसे उत्पन्न हुए—इस पर प्रकाश डाला है। भावसंग्रह म भावो के माध्यम से गुणस्थानों का वणन करते हुए पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावको की क्रियाओ का पर्याप्त वर्णन किया है। आलापपद्धति और नयचक्र म नयो का वणन है। आराधनासार मे चार आराधनाओ का तथा तत्त्वसार म स्वतत्त्व और परतत्त्व का विवेचन है।

अमृतचन्द्रसूरि

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय और तत्त्वार्थसार समयसार कलश ग्रन्थ लिखे हैं। तथा समयसार टीका प्रवचनसार टीका और पचास्तिकाय की टीका लिखी हैं। इनका समय पट्टावली[१] क अनुसार विक्रम सं ९६२ है।

आचाय श्री नेमिचन्द्र

य आचाय षट्खण्डागम क ज्ञाता होन स सिद्धान्त चक्रवर्ती कह

१ तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचाय परम्परा भाग २ पृ०

विपरीत मत संस्थापक

मुनिसुव्रतनाथ के शासन में क्षीरकदंब उपाध्याय का शिष्य वसु और पुत्र पर्वत ये पापी दुरात्मा हुए हैं। इन्होंने विपरीत मत की स्थापना करके नरक गति को प्राप्त किया है। अर्थात् 'अजैर्यष्टव्यं' सूत्र के अज शब्द का बकरा अर्थ करके (बकरे से होम करना चाहिए) पर्वत ने विपरीत मिथ्यात्व चलाया है।

वैनयिक मत संस्थापक

सभी तीर्थंकरों के काल में वैनयिक मिथ्यात्व प्रगट हुआ है। इनमें कोई जटासहित, कोई मुंडितशिर, कोई शिखाधारी और कोई नग्न भी रहते हैं। ये कहते हैं कि दुष्ट और गुणवान् सभी की समान विनय करना चाहिए।[1]

अज्ञान मत संस्थापक

पार्श्वनाथ के शासन के गण का शिष्य मस्करीपूरण नाम का साधु बहुश्रुतधारी था। इसने वीरप्रभु के तीर्थ में लोगों में अज्ञान मत चलाया। इसका कहना कि अज्ञान से ही मोक्ष होगा। संपूर्ण विश्व का कर्ता विधाता कोई एक ही है। शून्य का ध्यान-प्रतिमा के बिना ही निराकार शून्य का चिंतन करना चाहिए। यह मदिरा में आसक्त होता हुआ दुर्गति को चला गया है।[2]

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में मस्करीपूरण नाम के एक मुनि थे। वे ग्यारह अंग पाठी थे। भगवान् वीर प्रभु के समवसरण में आये किन्तु गणधर के अभाव में भगवान् की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। पुनः गौतम ने आकर दीक्षा ले ली। मनःपर्ययज्ञानी हो गये। तत्क्षण वीरभगवान् की दिव्य ध्वनि खिरने लगी। यह देख मस्करीपूरण समवसरण से बाहर निकल आया। उसने भगवान् की दिव्यध्वनि नहीं सुनी और लोगों से कहने लगा देखो! मैं ग्यारह अंगपाठी समवसरण में बैठा रहा था तब दिव्यध्वनि नहीं खिरी और जब उनके शिष्य गौतम आ गये तब दिव्यध्वनि प्रगट हो गई। यह गौतम जिनेंद्रदेव कथित शास्त्रों को नहीं जानता है। वह तो वेदों का ज्ञाता है। उसने आकर दीक्षा ले ली इसलिए भगवान् की वाणी

---

१ सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाणं समुब्भवो अत्थि।
सजडा मुंडियसीसा सिहिणा णग्गा य केई य ॥१८॥ —दर्शनसार

२ सिरिवीरणाहतित्थे बहुस्सुदो पासमंघगणिसीसो।
मक्कडिपूरणसाहू अण्णाणं भासए लोए ॥२०॥ —दर्शनसार

गिरने लगी। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है बल्कि अज्ञान से ही मोक्ष होता है। संसार में देव कोई नहीं है अतः तुम लोग शून्य का ध्यान करो। इत्यादि रूप से इसने अज्ञानमत चलाया।[1]

अब जो द्राविड़संघ आदि उत्पन्न हुए हैं उनका प्रशंसा का वर्णन—

द्राविड़संघ

"श्री पूज्यपाद के शिष्य वज्रनंदी नाम के मुनि ने द्राविड़संघ की स्थापना की है। ये विक्रमराजा के स्वर्गस्थ होने के ५२६ वर्ष के बाद दक्षिण मथुरा में (मद्रास प्रांत में) हुए हैं। इन्होंने अप्रासुक चने आदि का खाना का अगालित जल में स्नान आदि का निरूपण किया है।[2]

यापनीय संघ

विक्रम राजा के मरने के ७०५ वर्ष बाद कल्याण नगर में श्वेतपट धारियों में से श्रीकलश नाम के साधु से यापनीय नाम का संघ प्रगट हुआ है[3]।

अन्यत्र भी कहा है— करहाटक नगर में भूपाल नामक राजा की नृकुल देवी रानी थी। किसी समय रानी ने कहा हे नाथ! मेरे पिता के नगर में गुरु हैं उन्हें आप बुलाइए। राजा ने अपने बुद्धिसागर मंत्री को उन्हें लेने भेजा। मंत्री उन्हें लिवा लाया। जब राजा ने उन्हें दूर से देखा कि ये दण्ड पात्रादि सहित मत के धारक हैं वह बिना दर्शन किये वापस लौट आया। तब रानी ने उन गुरुओं से आकर प्रार्थना की कि हे भगवन्! मेरे आग्रह से आप सब परिग्रह छोड़कर पहले ग्रहण की हुई पवित्र निर्ग्रन्थ अवस्था ग्रहण कीजिए। तब उन श्वेताम्बर साधुओं ने वस्त्रादि परिग्रह छोड़कर हाथ में पिच्छी कमंडलु लेकर दिगम्बरी दीक्षा ले ली। तब राजा भी उनके दर्शनार्थ जाकर उन्हें अपने शहर में लिवा

---

१ मसयपूरणरिसिणा उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीरसमवसरणे अगहियझुणिणा णियतेण ॥१६१॥
॥१६२ से १६४॥ तक —भावसंग्रह

२ सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो ॥२४॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥ —दर्शनसार

३ कल्लाणे वरणयरे सत्तसये पंच उत्तरे जादे।
जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडादो ॥२९॥ —दर्शनसार

५ वर्तमान में निर्ग्रंथ मुनि

इस युग में निर्ग्रंथ साधु सम्प्रदाय रहेगा

कुन्दकुन्दादि जिनाचार्य स्वयं पंचमकाल में हुए हैं और उन्होंने स्वयं पंचमकाल में निर्ग्रंथ मुनियों का अस्तित्व सिद्ध किया है—

भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

इस भरतक्षेत्र में और पंचमकाल में आत्मस्वभाव में स्थित होने पर साधु को धर्मध्यान होता है। जो इस बात को नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं। आज भी रत्नत्रय से शुद्ध साधु आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद अथवा लौकान्तिक पद को प्राप्त कर लेते हैं और वहाँ से च्युत होकर मोक्ष चले जाते हैं[1]।

अन्यत्र भी कहा है— इस कलिकाल में भी कहीं कोई पुण्यशाली मुनि होते हैं जो कि मिथ्यात्व आदि कलंक पंक से रहित हैं सच्चे धर्म की रक्षा करने में मणिस्वरूप हैं अनेक परिग्रह के विस्तार को छोड़ चुके हैं और पापरूपी वन को दग्ध करने में पावकस्वरूप हैं। सो ये मुनि वर्तमानकाल में भूतल पर पूजे जाते हैं पुनः स्वर्ग में देवों द्वारा पूजे जाते हैं[2]।'

श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं—

'जो स्वयं मोह को छोड़कर कुलपर्वत के समान पृथ्वी का उद्धार अथवा पोषण करने वाले हैं जो समुद्र के समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों की निधि स्थान अर्थात् स्वामी हैं तथा जो आकाश के

---

१ भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥
अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

—मोक्षपाहुड पृ० २७५

२ कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं।
मिथ्यात्वादिकलंकपंकरहितः सद्धर्मरक्षामणिः॥
सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते।
मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः ॥२४१॥

—नियमसार गा० १५४, टीका

समान व्यापक होने से किन्ही के द्वारा स्पर्शित न होकर विश्व की विश्रांति के लिए हैं ऐसे अपूर्व गुणो के धारक चिरन्तन महामुनियो के शिष्य-निकट रहनेवाले, सन्मार्ग के अनुष्ठान मे तत्पर कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं।[1]

वर्तमान में साक्षात् केवली भगवान् व श्रुतकेवली नही हैं। फिर भी उनके वचन और उन वचनो के अनुरूप प्रवृत्ति करने वाले साधु विद्यमान हैं। श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं—

> संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणि
> तद्वाच परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिका ।
> सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासा समालम्बन,
> तत्पूजा जिनवाचि पूजनमत साक्षाज्जिन पूजित ॥६८॥

इस समय इस कलिकाल में भरत क्षेत्र के भीतर त्रैलोक्य चूडामणि केवली भगवान् विराजमान नही हैं। फिर भी लोक को प्रकाशित करने वाले उनके वचन तो वहाँ विद्यमान हैं ही और उनके वचनो को आश्रय अवलंबन लेने वाले सद् रत्नत्रयधारी श्रेष्ठ यतिगण मौजूद हैं। इसलिये उन मुनियो की पूजा जिनवचनो की ही पूजा है और साक्षात् जिनदेव की ही पूजा की गई है ऐसा समझना।[2]

पूर्वाचार्यों ने मुनियो के प्रति श्रावको के लिए क्या आदेश दिया है—

इस कलिकाल में मनुष्यो का चित्त चंचल रहता है और शरीर अन्न का कीडा बना हुआ है। यह बडे आश्चर्य की बात है कि जो आज भी जिनरूप को धारण करने वाले मनुष्य विद्यमान हैं। जैसे लेपादि—पाषाण वगैरह से निर्मित जिनेन्द्रदेवो की प्रतिमायें पूज्य हैं वैसे ही आज कल के मुनियो को भी पूर्वकाल के मुनियो की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिये।

आहारमात्र प्रदान के लिये तपस्वियो की परीक्षा क्या करना? वे सज्जन हो या दुर्जन। गृहस्थ तो दान से शुद्ध हो जाता है। सब तरह के

---

१ भर्तार कुलपर्वता इव भुवो मोह विहाय स्वय
रत्नाना निधय पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहा ।
स्पृष्टा कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचरा सन्त

२

आरंभ में प्रवृत्त हुए गृहस्थों का धन अनेक प्रकार से हुआ करता है। इसलिये अत्यधिक विचार नहीं करना चाहिये। मुनिजन जैसे-जैसे तप ज्ञान आदि गुणों से विशेष हों, वैसे-वैसे गृहस्थों को उनकी अधिक पूजा (समादर) करना चाहिये। धन दैव से भाग्य से मिलता है। अतः भाग्यशाली पुरुषों का आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले, किंतु उन्हें अपना धन जैन धर्मक्रिया में अवश्य खर्च करना चाहिये। जिनेन्द्र का यह शासन अनेक प्रकार के ऊँच और हीन जनों से भरा हुआ है। जैसे मकान एक खम्भे पर नहीं ठहर सकता है वैसे ही यह शासन—जैन धर्म भी एक पुरुष के आश्रय से नहीं ठहर सकता है।'

नाम स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेप की अपेक्षा से मुनि चार प्रकार के होते हैं और ये सभी दान सम्मान आदि के योग्य हैं। गृहस्थों को पुण्य उपार्जन करने में जिनबिम्बों के समान उन चार प्रकार के मुनियों में उत्तरोत्तर रूप से विशेष विशेष विधि हो जाती है।'

---

१ काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥७९६॥
यथापूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्।
तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः ॥७९७॥
भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥८१८॥
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः।
बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥८१९॥
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः।
तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥८२०॥
दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते।
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥८२१॥
उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम्।
नैकस्मिन् पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥८२२॥
ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः।
भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥८२३॥
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते।
पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥८२४॥

—उपासकाध्ययन

अन्यत्र भी कहा है—

'इस कलिकालरूपी वर्षाकाल में सपूर्ण दिशायें मिथ्या उपदेशरूपी बादलो से व्याप्त हो रही हैं बडे खेद की बात है कि ऐसे समय में सदुपदेश देने वाले गुरु जुगुनू के समान क्वचित्-क्वचित् ही चमकते हैं।

अत क्या करना चाहिए ? सो ही बताते हैं—

जैसे पाषाण आदि की प्रतिमाओ मे जिनेंद्रदेव की स्थापना करके पूजते हैं वैसे ही *ऐदयुगीन—आजकल के मुनियो में पूर्व क मुनियो की* स्थापना करके भक्ति से उनकी अर्चा करिये। क्योंकि अतिचर्चा—अति क्षोदक्षेम करने वालो का हित कैसे हो सकता ह ?[1]

पचम काल के अन्त तक चतुर्विध सघ का अस्तित्व रहेगा तभी तक धर्म भी रहेगा और तभी तक राजा का अस्तित्व सुना जायगा तथा अग्नि का अस्तित्व भी तभी तक रहेगा। चतुर्विध सघ के अभाव मे धर्म नही रहेगा और धम के अभाव म अग्नि भी नही रहेगी। यथा—

अतिम इक्कीसवें कल्की क समय मे वीरागज नामक मुनि सवश्री नाम की आर्यिका तथा अग्निदत्त और पगुश्री नामक श्रावक युगल होंगे। कल्की की आज्ञा स मत्री मुनिराज के आहार के समय उनसे प्रथम[2] ग्रास का शुल्करूप म मांगेंगे तब मुनिराज तुरत उसे देकर अन्त

---

१ कलिप्रावृषि मिथ्यान्दिमघच्छन्नासु दिक्ष्विह ।
खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतते क्वचित ॥७॥ —सागारध० पृ० १५
विन्यस्यन्दयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव ।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुत श्रेयोऽतिचर्चिनाम ॥ ६४॥
—सागारध प १३७

२ वीरागजाभिधाणो तक्काले मुणिवरो भव एक्को ।
सव्वसिरी तह विरदी सावयजुगमग्गिदत्तपगुसिरी ॥१५२१॥
—तिलोय० अ० पृ० ३४४

त तस्स अग्गपिड सुक्कं गण्हह अप्पघान्तिस ।
अय जाचिदम्हि पिंडे दादूण मुणिवरो तुरिद ॥१५२७॥
कादूणमतराय गच्छन्ति पावन्ति ओहिणाण पि ।
अक्कारिय अग्गिलय पगुसिरीविरन्दिसव्वसिरी ॥१५२८॥
भासइ पसण्णहिदओ दुस्समकालस्स जाम्मवमाण ।
तुम्हम्ह तिन्णिमाऊ एमो अवसाणकक्की हु ॥१५२९॥
ताहे चत्तारि जणा चउविह आहारसगपहुदीण ।
जावज्जीवं छडिय सण्णास ते करंती य ॥१५३०॥

[illegible]
का गुणस्थान पाचवा, चौथा या पहला है तो वे द्रव्यलिगी हैं। यह परिणामों की स्थिति जानना सवज्ञगम्य ही है।

संघ म जा साधु रहते हैं वहाँ परस्पर में वदना प्रतिवदना करने मे व परिणामों की सूक्ष्म व्यवस्था को नही देखते हैं प्रत्युत बाहरी क्रियाआ से ही नमस्कार आदि म प्रवृत्त हाते हैं। जैस—भवदेव भावदेव मुनि और वारिषेण-पुष्पडाल का उदाहरण जगत्प्रसिद्ध है।

द्रव्यलिग भावलिग

नीतिसार म कहते हैं कि—

द्रव्यलिग को धारण करके ही यति भावलिगी होता है। अर्थात् ऐसा नही है कि पहले भावलिग हो जाव पुन द्रव्यलिग हो। जस धान्य के ऊपर का छिलका अलग करने क बाद ही अन्दर का लालिमा को दूर करके चावल स्वच्छ किया जाता है। किन्तु अन्दर की लालिमा दूर करके ऊपर का छिलका कोई निकालना चाहे यह असम्भव है। अत द्रव्यलिग निग्रन्थ अवस्था धारण किय बिना नाना व्रता का धारण करते हुए भी कोई पूज्य नहीं हो सकता है। अचेलकता—नग्नता शिर और दाढ़ी मूछ के केशा का लोच आभरण आदि स रहित हाने से सस्कार रहित शरीर और मयूरपिच्छिका का धारण करना य चार चिह्न माने गए हैं। यह द्रव्यलिग ही भावलिग का कारण है। भावलिग ता आन्तरिक परिणामरूप हाने स नेत्रइद्रिय का विषय नहीं है अत वह स्पष्ट नही हो सकता है। मुद्रा ही सवत्र मान्य हाती है मुद्रारहित काई भी मान्य नही होता है यथा राजमुद्रा का धारण करने वाला हो अत्यंतहीन भी हो तो भी राजा माना जाता है अथवा राजा के कमचारी (सिपाही) की मुद्रा से सहित ही कोई मनुष्य राजकमचारी माना जाता है अन्यथा नही[1]।

---

१ द्रव्यलिग समास्थाय भावलिगी भवद् यति।
विना तेन न पूज्य स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ॥७४॥
अचेलत्व शिर कूचलोचोऽग्र केशधारणम्।
निराभरणताऽशिन्नहता पिच्छधारणम् ॥७५॥
द्रव्यलिगमन्तो ज्ञय भावलिगस्य कारणम।
तन्ध्याभक्त स्पष्ट न नत्रविषय यत ॥७६॥
मुद्रा सवत्र मान्या स्यान् निर्मुद्रो नव मन्यते।
राजमुद्राधरात्यतहीनवच्छास्त्रनिणय ॥७७॥ —नीतिसार

मुनियो मे वीरसागर जी के प्रथम शिष्य थे।

आचार्य श्री वीरसागर जी के समाधि के अनन्तर कार्तिक शु० ११ वि० सं० २०१४ मे आप आचार्य पट्ट पर आसीन हुए। लगभग ११ वर्ष तक आपने वात्सल्य और अनुशासन के साथ अपने गुरु के संघ का परिपालन किया। अनेको दीक्षायें देकर संघ मे वृद्धि की और कुशलता से संघ पर अनुशासन किया।

आपकी प्रेरणा से अतिशय क्षेत्र महावीर जी मे शान्तवीरनगर के प्रांगण मे ३१ फुट ऊँची शान्तिनाथ भगवान् की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होने का आयोजन चल रहा था। आप ससंघ वहाँ पधार चुके थे। किन्तु अकस्मात् प्रतिष्ठा के पूर्व ही आप समाधि को प्राप्त हो गये। वि० सं० २०२५ फाल्गुन कृष्णा के दिन आप स्वर्गस्थ हुए हैं। आपका अनुशासन और वात्सल्य आज भी साधुओं के हृदय मे अंकित है जो कि भविष्य के लिये प्रेरणास्रोत है।

आचार्य धर्मसागर महाराज

आप आ० वीरसागर जी के शिष्यों मे द्वितीय मुनि हैं। आप आ० वीरसागर जी की समाधि के कुछ दिन बाद पृथक विहार कर गये थे। सो उस पंचकल्याणक महोत्सव पर अपने संघ सहित वहाँ आये हुए थे। आ० शिवसागर जी के बाद चतुर्विध संघ ने आपको आचार्य पट्ट प्रदान किया।

जयपुर राज्य के अन्तर्गत गमीरा नाम के ग्राम में खंडेलवाल जातीय छाबड़ागोत्रीय सेठ बख्तावरमल की पत्नी उमराव बाई की कुक्षि से वि० सं० १९७० मे आपने जन्म लिया था। आपका नाम चिरंजीलाल रखा गया। इन्दौर म आपने आचार्य कल्प वीरसागर के दर्शन करके द्वितीय प्रतिमा के व्रत ले लिए। पुनः चन्द्रसागर मुनि के दर्शन करके उनसे सप्तम प्रतिमा के व्रत लेकर संघ म ही रहने लगे। बालूज (महाराष्ट्र) में चैत्र शु० ७ वि० सं० २००० मे क्षुल्लक दीक्षा ले ली। फाल्गुन शु० १५ वि० सं० २००१ म बड़वानी सिद्धक्षेत्र में चन्द्रसागर जी महाराज की असमय म समाधि हो गई। तब आप आ० क० वीरसागर जी के संघ में आ गये। वि० स० २ ०८ वैशाख मे पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के अवसर पर आपने आ० वीरसागर जी से ऐलक दीक्षा ले ली। और यहीं पर चातुर्मास के अन्त मे कार्तिक सु० १४ वि० सं० २ ०८ म ही मुनि दीक्षा ले ली। महावीर जी अतिशय क्षेत्र में फाल्गुन शु० ८ वि० सं० २०२५

मे आपको आचार्य पट्ट प्राप्त हुआ है।

वि० स० २०३१ सन् १९७४ मे भगवान् महावीर स्वामी का पचीस सौवा निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय स्तर पर मनाने के सुअवसर पर दि० जैन सम्प्रदाय के आचार्यों मे आपको प्रमुख माना गया। हमारी भावना और पुरुषार्थ दोनो सफल हुए और आप ससघ भारत की राजधानी दिल्ली में पधारे।

आचार्यरत्न देशभूषणजी भी उस समय दिल्ली मे विराजमान थे और विद्यानन्द मुनि भी विद्यमान थे।

दो आचार्य एक उपाध्याय २२ मुनि ऐसे २५ दिगम्बर मुनि अनेक आर्यिकाओ क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के एक मच पर दर्शन करके जैन जनता कृतार्थ हो गई थी और अजैन जनता ने भी आश्चर्य से देखा था।

भगवान् महावीर स्वामी के दीक्षा दिवस मगसिर वदी १० सन् १९७४ में यह कतिपय मुनि और आर्यिका दीक्षा का आयोजन दरिया गंज, दिल्ली (महावीर वाटिका) के प्रागण म हुआ था। उसी समय आ० रत्न देशभूषण जी महाराज ने अपने शिष्य विद्यानन्द को उपाध्यायपद दिया था। और अपनी शिष्या (क्षुल्लिका) के गुरु आपने उसी समय आर्यिका ज्ञानमती को न्याय प्रभाकर और आर्यिका रत्न पद से सम्बोधित करते हुए नवीन पिच्छिका और शास्त्र प्रदान किये थे।

इस प्रकार आचार्य धर्मसागर जी अपने संघ का सचालन करते हुए अपनी निस्पृह दिगम्बरी चर्या से चतुर्थकाल के समान जनता को आह्लादित करते हुए और जैनधर्म की प्रभावना करते हुए विचरण कर रहे हैं।

इस प्रकार मूलसंघ के अन्तर्गत कुन्दकुन्दाम्नाय में नन्दिसघ बलात्कार गण और सरस्वती गच्छ की परम्परा में वि० स० १९८१ आश्विन शु० ११ को श्री शान्तिसागर जी आचार्य पट्ट पर आसीन हुए। वि० सं० २०१२ भाद्रपद में वीरसागर जी आचार्य पट्ट पर बैठे। वि० स० २०१४ कार्तिक शु० ११ को शिवसागर को आचार्य पट्ट मिला और वि० स० २०२५ फाल्गुन शु० ८ को धर्मसागर जी उस पट्ट पर आसीन हुए। इस तरह ३२ वर्ष तक शान्तिसागर जी आचार्य रहे, ७ वर्ष तक वीरसागर आचार्य रहे और ११ वर्ष तक शिवसागर आचार्य रहे हैं। अभी ९ वर्ष से धर्मसागर जी महाराज आचार्य पद का उत्तरदायित्व सँभाल रहे हैं। आप चिरकाल तक धर्म की प्रभावना करते रहें यही हमारी भावना है।

शिवगोंडा रखा गया। ईस्वी सन् १९१२ में इन्होंने मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। ये जब भोजगाँव जाते तब आ० शांतिसागर जी गृहस्थावस्था में थे। वे इनके पास गाँव में रहते और प्रातः विहार के समय भोज में स्थित वेद गंगा-दूध गंगा नदी के किनारे ले जाते और वहाँ से अपने कंधे पर बिठाकर इन्हें नदी पार कराते थे। एक दिन शांतिसागर (श्रावक अवस्था में) बोले कि मैं आपको नदी पार कराता हूँ आप मुझे संसार समुद्र पार करा दीजियेगा।

आदिसागर मुनिराज महान् तपस्वी थे। ७ दिन उपवास करते आठवें दिन आहार लेते थे और शेष दिनों में ध्यान किया करते थे। आहार में एक ही वस्तु लेते थे। जैसे—गन्ने का रस लेते तो अन्य वस्तु नहीं लेते थे। इनकी समाधि उदगाँव में हुई थी। ऐसे तपस्वी और ध्यानी गुरु के शिष्य भी तपश्चरण और ध्यान में कुशल ही थे। गुरु ने आपको अंत समय अपना आचार्यपद सौंप दिया था।

अनन्तर शेडवाल में जनसमुदाय और चतुर्विधसंघ के मध्य आपको आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया गया।

आप ध्यान के विशेष अभ्यासी थे तीर्थों के प्रति आपकी जैसी भक्ति इस युग में अन्य किसी में देखने में या सुनने में नहीं आई है। आप न्याय छन्द व्याकरण सिद्धान्त वैद्यक ज्योतिष मन्त्र तन्त्रादि के ज्ञाता उद्भट विद्वान् थे। आप १८ भाषाओं में कुशल वक्ता थे। उपदेश से जनता को मन्त्रमुग्ध कर देते थे। अध्यापन की शैली अतीव सुन्दर थी। मुझे भी वि० सं० २०१२ में खानिया चातुर्मास के समय आपके श्रीमुख से तत्त्वार्थवार्तिक अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों के पढ़ने का सौभाग्य मिला था। आपका वात्सल्य आज भी हमें आपके श्रीचरणों की स्मृति दिलाता रहता है।

आप सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये ससंघ विहार कर रहे थे। मार्ग में महसाना ग्राम (गुजरात) में वि० सं० २०२८ माघ कृ० ६ को आपकी समाधि हो गई।

आपके पट्ट पर सन्मतिसागर मुनि आरूढ़ हुए। जो कि आज संघ का संचालन करते हुए धर्म प्रभावना कर रहे हैं।

आचार्य विमलसागर जी महाराज

उत्तरप्रदेश प्रान्त के एटा जिलान्तर्गत जलेसर कस्बे से लगभग डेढ़ मील दूर कोसमा नाम का एक ग्राम है वहाँ पर दि० जैन पद्मावती

पुरवाल जातीय लाला बिहारीलाल की धर्मपत्नी कटोरी की कुक्षि स आश्विन कृ० ७ वि० सं० १९७२ में आपका जन्म हुआ था। आपका नाम नेमिचन्द्र रखा गया। उच्चशिक्षा हेतु आपको मोरेना महाविद्यालय में अध्ययन कराया गया।

बड़वानी सिद्धक्षेत्र में आ० महावीरकीर्ति महाराज के पास प्रथम आषाढ़ वदी ५, वि० २००७ में क्षुल्लक दीक्षा पाई। पुनः सोनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आ० श्री महावीरकीर्ति जी के करकमलों से फाल्गुन सुदी १३ वि० सं० २००१ में निग्रंथ दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपका नाम विमलसागर प्रसिद्ध हुआ। टूडला नामक ग्राम में विद्वानों की प्रार्थना और दीक्षागुरु के आदेश से मगसिर वदी २ को आपको आचार्य पद प्रदान किया गया। आप दीक्षा और शिक्षा देने में कुशल आचार्य हैं। अभी तक आपने अनेक मुनि आर्यिकायें क्षुल्लक और क्षुल्लिकायें दीक्षित की हैं।

वर्तमान में आपकी प्रेरणा से सम्मेदशिखर में बहुत ही सुन्दर विशाल समवसरण का निर्माण कार्य हुआ है और राजगृही में आ० महावीरकीर्ति जी की स्मृति में सरस्वती भवन निर्माण का महान् कार्य हुआ है। आप सतत धर्मप्रभावना करते हुए श्रावकों को धर्म कार्य में तत्पर करते रहते हैं।

आचार्य शांतिसागर जी की परम्परा में उनके शिष्य नेमिसागर सुधर्मसागर और कुंथुसागर भी आचार्य पद से विभूषित होकर जनहित के लिये बहुत कुछ कार्य कर चुके हैं। आचार्यकल्प चन्द्रसागर ने भी सिंहवृत्ति से भारत में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी।

■

७ युक्ताहार विहार

प्रश्न—आज कल के साधु युक्ताहार विहारी हैं या नहीं ?

उत्तर—अवश्य हैं। जो आगम के अनुकूल आहार विहार करते हैं वे युक्ताहारी-विहारी ही हैं। इसलिये—

युक्ताहार—छयालीस दोषों से रहित कालगुण नवकोटि से विशुद्ध शीत-उष्ण सरस नीरस आदि में सम भाव सहित जो आहार ग्रहण करता है उसे एषणासमिति कहते हैं। इसके साथ स्थितिभोजन और एकभक्त ये भी मूलगुण हैं। अर्थात् पूर्व में कथित दोषों से रहित और मन वचन काय तथा कृत कारित और अनुमोदना इनको गुणित करने से ३×३=९ ये नवकोटि मानी गई हैं। इनसे रहित आहार ही एक जगह स्थित होकर और दिन में एक बार ग्रहण किया जाता है। छयालीस दोषों के अन्तर्गत १६ उद्गम दोष माने गये हैं जो कि श्रावकों के आश्रित होते हैं और मालूम होने पर मुनि उस आहार का ग्रहण नहीं करते हैं। उनमें सबसे प्रथम एक औद्देशिक दोष है जिसका अर्थ—

अथ श्रमण के पश्चात् औद्देशिक सूक्ष्मभाव का भी परिहार करने की इच्छा से आचार्य कहते हैं[1]। नाग यक्षादि देवता के लिये जैन दर्शन से बाह्य लिंगी-पाखंडी जनों के लिये और कृपणों-दीनजनों का उद्देश्य करके जो भोजन बना हुआ है वह औद्देशिक है। अथवा जो कोई भी आयेगा हम उन सभी को देंगे ऐसा उद्देश्य करके बनाया गया अन्न यावानुद्देश है। जो कोई पाखंडी आयेंगे उनको मैं दूँगा ऐसे उद्देश से निमित्त अन्न समुद्देश है। जो कोई श्रमण-आजीवक रक्तपटी तापसी, परिव्राजक अथवा छात्रादि कोई भी आयेंगे उनको मैं दूंगा ऐसा उद्देश करके बनाया गया अन्न आदेश है। जो कोई निर्ग्रन्थ साधु आयेंगे मैं उन्हें आहार दूंगा ऐसा मानकर किया हुआ समादेश है[2]।

---

१ अथ श्रमण पश्चात् उ (औ) द्देशिक सूक्ष्म भेदमपि परिहर्तुकाम प्राह—

२ जावदियं उद्देसो पासंडोत्ति य हवे समुद्देसो।
समणोत्ति य आदेसो णिग्गंथोत्ति य समादेसो ॥३॥ —मूलाचार

पुरवार जातीय लाला बिहारीलाल की धर्मपत्नी कटोरी की कुक्षि से आश्विन कृ० ७ वि० सं० १९७२ में आपका जन्म हुआ था। आपका नाम नेमिचन्द्र रखा गया। उच्चशिक्षा हेतु आपको मोरेना महाविद्यालय में अध्ययन कराया गया।

बड़वानी सिद्धक्षेत्र में आ० महावीरकीर्ति महाराज के पास प्रथम आषाढ़ कृष्णा ५ वि० २००७ में क्षुल्लक दीक्षा पाई। पुन सोनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आ० श्री महावीरकीर्ति जी से [illegible] में फाल्गुन सुदी १३ वि० सं० २००८ में निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपका नाम विमलसागर प्रसिद्ध हुआ। टूण्डला नामक ग्राम में विद्वानों की प्रार्थना और दीक्षागुरु के आदेश से मगसिर वदी २ को आपको आचार्य पद प्रदान किया गया। आप दीक्षा और शिक्षा देने में कुशल आचार्य हैं। अभी तक आपने अनेक मुनि आर्यिकायें क्षुल्लक और क्षुल्लिकायें दीक्षित की हैं।

वर्तमान में आपकी प्रेरणा से सम्मेदशिखर में बहुत ही सुन्दर विशाल समवसरण का निर्माण कार्य हुआ है और राजगृही में आ० महावीरकीर्ति जी की स्मृति में सरस्वती भवन निर्माण का महान् कार्य हुआ है। आप सतत धर्मप्रभावना करते हुए श्रावकों को धर्म कार्य में तत्पर करते रहते हैं।

आचार्य शान्तिसागर जी की परम्परा में उनके शिष्य नमिसागर सुधर्मसागर और कुंथुसागर भी आचार्य पद से विभूषित होकर जनहित के लिए बहुत कुछ कार्य कर चुके हैं। आचार्यकल्प चन्द्रसागर ने भी सिंहवृत्ति से भारत में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी।

■

छिद्र रहित हा
‍ कहलाता है।

छद्ररहित टूटे
खटमल आदि
। तथा जिस
न्तर होता है।
ा जानो है'।
श्रमणगण इन्द्र
वमति भस्म
कुयें ग्रहण कर

त्रवत् कृतिकम
उका उठाकर
।
की दूरी मे
न्थ की दूरी
ा सिद्ध

शरीर हो—एक काठ का हो अपने शरीर प्रमाण हो छिद्र रहित हो टूटा-फूटा न हो और चिकना हो ऐसा पाटा काष्ठमय संस्तर कहलाता है।

तृणमय संस्तर कैसा हो ?

तृण संस्तर ग्रंथि—गाठ रहित तृण से बना हुआ छिद्ररहित टूटे हुए तृणों से नही रचा गया मृदुस्पर्श वाला और निजन्तुक—खटमल आदि जंतु से रहित हो जिसका कि सुख से शोधन किया जा सके। तथा जिस पर सोने या बैठने से शरीर में खुजली न हो तृणमय संस्तर होता है। इन लक्षणों में तृण घास और घास की बनी हुई चटाई भी आ जाती है[1]।

अन्यत्र भी चटाई का विधान आया है। यथा— श्रमणगण इन्द्र राजा आदि के द्वारा विधिवत् दिये गये श्रमण के योग्य वसति संस्तर आदि पिच्छिका चटाई पुस्तक कमंडलु आदि वस्तुयें ग्रहण कर सकते हैं[2]।

वन्दना प्रतिवन्दना

प्रातःकालीन देववंदना के अनंतर सभी साधु विधिवत् कृतिकर्म आचार्य की वंदना करते हैं तब आचार्य भी अपनी पिच्छिका उठाकर उन साधुओं को प्रति नमोस्तु करते हुए प्रतिवन्दना करते हैं[3]।

आर्यिकायें आकर वन्दना करती हैं तो वे पांच हाथ की दूरी से आचार्य की छह हाथ की दूरी से उपाध्याय की और सात हाथ की दूरी से साधु की वंदना करती हैं। वे गवासन से बैठकर विधिवत् सिद्ध

१ भूमिसमरुन्दुओ अकुडिल एगंगि अप्पमाणो य।
अच्छिद्दो य अकुडिलो लण्हो वि य पल्हसयारो ॥६४३॥
णिस्सधी य अपोल्लो णिरुवहदो समन्धिवासणिज्जंतु।
सुहपडिलेहो मउओ तणसंथारो हवे चरिमो ॥६४४॥
—भगवती आ० प० ८४३-८४४

२ वसतिविहृतिबृहद्वृसो पुस्तककुण्डीपुर सर श्रमणैः।
श्रामण्यसाधनमवग्रहविधिना ग्राह्यमिन्द्र ॥५४॥
—अनगार ध० अध्याय ४०

टीका में वृसी—व्रतिनामासनं।

३ गिरीस्वाभिनीवक सपिच्छाञ्जलिशालिना।
मदकमूर्याचार्येण कर्तव्यं प्रतिवन्दनम् ॥६३॥
—आचारसार पृ० ३६

कदाचित् विहार आदि प्रसंग में या चलते समय यदि निंद्य वस्तु चांडालादि जन रजस्वला स्त्री आदि का स्पर्श हो जाय तो साधु दंड स्नान करके पुन मंत्र को जपकर उस दिन उपवास करते हैं। अथवा दंडस्नान[1] के बाद मंत्र जपकर गुरु से प्रायश्चित्त लेते हैं[2]।

'मुनि अपनी वसतिका में यदि अकेले हो तो किसी अकेली आर्यिका या श्राविका से वार्तालाप नहीं करते हैं चूंकि लोकापवाद का भय रहता है[3]। साधु अपने स्वाध्याय को पूर्ण करके अपनी योग्यता और क्षयोपशम के अनुसार गुरुओं के पास अध्ययन करके उन ग्रंथों का मनन करते हैं। उन्हें कंठाग्र करके गुरु को सुनाते हैं। शास्त्रों में कहा है कि कंठगत प्राण होने तक भी ज्ञानार्जन का पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिये।

संघ के नायक आचार्य जहां ठहरे हैं। रात्रि में संघस्थ रोगी अस्वस्थ आदि साधुओं के मल विसर्जनादि (दीर्घशंकादि) के लिये स्वयं सायंकाल में वसतिका के निकट स्थान में जगह देखकर निश्चित कर लेते हैं। रात्रि में कोई साधु यदि शौचादि को जाते हैं तो गुरु द्वारा निर्दिष्ट स्थान में अपने उल्टे हाथ से स्पर्श कर कि कोई जीवजंतु तो नहीं पुन मलादि विसर्जन करते हैं[4]।

यदि धर्मशाला आदि बड़ा स्थान है तो श्रावक अंदर ही मर्यादित एकांत स्थान में बालू रेत आदि डालकर व्यवस्था बना लेते हैं जहाँ पर साधु दीर्घशंका आदि के लिये जा सकते हैं। चूंकि रात्रि में साधु दूर तक गमन नहीं करते हैं।

प्रश्न—रात्रि में साधु बोलते हैं या नहीं ?

उत्तर—क्वचित् कदाचित् बोलने के उदाहरण तो मिल जाते हैं किंतु मूलाचार आदि ग्रंथों में मुनियों के मूलगुणों में रात्रि में मौन का

---

१ दंडस्नान—सिर से कमण्डलु के जल की धारा देने से जो पैर तक जाय उसे दंडस्नान कहते हैं।

२ स्पृष्टे कपालिचांडालपुष्पवत्यादिके सति।
जपेदुपोषितो मंत्रं प्रागुरप्लुत्याशु दंडवत्॥७॥ —आचार प० ३८

३ यद्यपि विमलो योगी छिद्रान् पश्यति मेदिनी।
अतश्च लौकिकाचारं मनसापि न लंघयेत्॥

४ रात्रौ दु पमज्जित्ता पण्णसमणपेक्खिदम्मि ओगासे।
आसंकविसुद्धीए अपहत्थगफासणं कुज्जा॥१४५॥
—मूला० प० १७७

प्रश्न—मत्त्वों का ही उपदेश देते हैं या क्रियाकाड का भी ?

उत्तर—चारों अनुयोगों का ही उपदेश देते हैं चूंकि सभी अनुयोगों में रत्नत्रय का कथन है और वह रत्नत्रय ही आत्मा की सिद्धि का साधन है और क्रियाकाड भी भेद चारित्र के अन्तर्गत है।

श्री कुंदकुंद स्वामी ने भी प्रवचनसार मे कहा है—

'दर्शन ज्ञान का उपदेश शिष्यों का ग्रहण और उनका पोषण तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश ये सब सरागी साधुओं की चर्या है'[1]। इसमें जिनेन्द्र पूजा का उपदेश तथा शिष्यों का पोषण आदि करना क्रिया काड ही तो है।

तथा अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि—

'सबसे प्रथम किसी भी भव्य जीवों को मुनि धर्म का उपदेश देना चाहिये अन्यथा वह शिष्य थोडे में संतुष्ट होकर उत्तम रत्नत्रय से वंचित हो जाता है और तब साधु भी प्रायश्चित्त का भागी होता है'[2]। कहने का मतलब यही है कि शिष्यों की योग्यता को देखकर उनके समझने में आने लायक और जितना वह ग्रहण कर सकें उसी प्रकार से उपदेश देना चाहिये।

इसके अतिरिक्त सागरसेन मुनिराज को पुरुरवा भील ने नमस्कार किया तब मुनि ने उसे आशीर्वाद देकर मद्य मास मधु के त्याग का उपदेश दिया। अन्यत्र भी खदिर भिल्ल को कौवे का मास छुडाया मृगसेन धीवर को पहली मछली जो जाल में फँसे उसे छोड देना ऐसा उपदेश दिया। पात्र की योग्यता के अनुसार ही उपदेश होता है। चूंकि आशीर्वाद देने में भी तो भेदभाव देखा जाता है पुन उपदेश में ऐसा होना तो स्वाभाविक ही है।

उपदेश के अनन्तर कोई जिज्ञासु गुरु से कुछ विशेष जानने के लिए धर्म सबधी प्रश्न भी करते हैं अथवा विद्वान् श्रावक बैठकर तत्त्वचर्चा भी करते हैं। श्रावकों के साथ व्यर्थ की चर्चा लौकिक कथा, गृहस्थी संबधी

---

१ दसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहण च पोसण तेसि।
चर्या हि सरागाणा जिणिन्दपूजोवदेसो य ॥२४८॥

२ यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमति।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं

आभियोग्य भावना को करता है। किन्तु जो अपने अथवा पर के आयु आदि ज्ञान करने के लिए मन्त्रादि का प्रयोग करता है धर्मप्रभावना के लिए कौतुक को दिखलाता है अथवा मैं वैयावृत्ति में प्रवृत्ति करूंगा इस अभिप्राय से इनका प्रयोग करता है तथा दर्शन ज्ञान, चारित्ररूप परिणामों में आदरपूर्वक प्रवृत्ति करता रहता है तो वह दूषित नहीं है[1]।

अर्थात् मूलाराधना में कंदर्प आदि पांच भावनाओं को साधु के लिए छोड़ने योग्य बताते हुए आभियोग्य भावना में मंत्रादि प्रयोगों का भी निषेध किया है। किंतु टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि यदि वह धर्म प्रभावना आदि के उद्देश्य से ऐसा करता है तो दूषण नहीं है। यदि वह अपनी आजीविका स्वरूप उसमें ही लग जाता है अपनी आवश्यक क्रियाओं से उदासीन हो जाता है तब तो निषिद्ध ही है।

षट्खंडागम के विषय के ज्ञाता धरसेनाचार्य सोरठ देश के गिरि नगर की चंद्रगुफा में ध्यान करते रहते थे। एक बार उन्हें चिन्ता हुई कि मेरे पश्चात् मुझमें विद्यमान श्रुतज्ञान का लोप हो जायगा। तब उन्होंने महिमानगरी के मुनिसम्मेलन को पत्र लिखकर एक ब्रह्मचारी को भेजा और वहां से योग्य दो शिष्य बुलाये। गुरु ने उनकी बुद्धि की परीक्षा हेतु एक को अधिकाक्षर और एक को हीनाक्षर मंत्र देकर उन्हें षष्ठोपवास से सिद्ध करने को कहा। आज्ञानुसार उन्होंने कुछ ऊहापोह के बिना ही मंत्र सिद्ध कर लिया। तो एक के सामने बड़े-बड़े दांत वाली और एक के सामने कानी देवी के रूप में दो देवतायें प्रकट हुइ। इन्हें देखकर उन साधुओं ने समझ लिया कि मंत्र में कुछ त्रुटि है। अनंतर मंत्र व्याकरण से मंत्रों को शुद्ध करके दोनों ने पुनः सिद्धि की तब देवियां अपने स्वाभाविक रूप में प्रगट हुइ।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि इतने महान् आचार्य भी मंत्र का प्रयोग करते-कराते थे। हां इतना अवश्य है कि उपर्युक्त मिष्ट आहार आदि के हेतु इनका प्रयोग नहीं करते हैं और न ऐसे श्रावकों को ही मंत्रादि देते

---

१ द्रव्यलाभस्य मृष्टाशनस्य सुखस्य वा हेतु मंत्राद्यभियोगकर्म प्रयुंक्ते य स एव आभियोग्यभावना करोति। तत्र स्वस्य परस्य वा आयुरादिपरिज्ञानाय मंत्राभियोगं कुर्वन् धर्मप्रभावनार्थं कौतुकं उपदर्शयन वैयावृत्यं वा प्रवर्तयामीति उद्यतः ज्ञानदर्शनचारित्रपरिणामादरवतनान्न दुष्यतीति भावः।

—मूलाराधना पृ० ४००

प्रयोग से भून का आवश उत्पन्न करना कौतुककाय—असमय म जल वर्षा आदि दिखाना भूति कर्म—बालको की रक्षा हेतु भूतिकम मत्र का प्रयोग करना। ये कार्य मिष्टाहार आदि हेतु यदि किये जाय ता दोषरूप हैं। किंतु यदि आयु आदि का ज्ञान धर्मप्रभावना वयावृत्ति आदि के लिये मत्रादि प्रयोग किये जाते हैं तो दोष नही है। जैसा कि पहले उद्धरण देकर बताया जा चुका है[1]।

आसुरी भावना—बहुत काल तक रहने वाले क्रोध से युक्त और कलह से युक्त तपश्चरण करना ज्योतिषी आदि की आजीविका करना क्रूर परिणामी होना तथा दोष करके भी पश्चात्ताप नही करना।

सम्मोही भावना—मिथ्यामार्ग का उपदेश देना मुक्ति माग म दूषण लगाना रत्नत्रयरूप सच्चे माग से विपरीत आचरण करना इस प्रकार मोह से लोक को मोहित करना।

ये पाचो भावनायें रत्नत्रय की विराधना करने वाली हैं। यदि साधु इन भावनाओ को करते हैं तो मरण कर देवदुर्गति म चले जाते हैं[2]। अर्थात् देवो म आभियोग्य जाति के देव होकर इन्द्रादिको के वाहन बनने का काय करते हैं किल्विषक जाति म पैदा होकर इन्द्र की सभा स बहिर्भूत रहते हैं और असुर जाति के देवो म पैदा होकर कदाचित् नरको म नारकियो को लडा कर पापसचय करते रहते ह। इत्यादि पुन मिथ्यात्व के निमित्त से अनत ससार म परिभ्रमण करते रहते हैं।

ये साधु तपोभावना, ज्ञानभावना अभीरुत्व भावना एकत्व भावना और धृतिबल भावना सल्लेखना रहित इन पाच भावनाओ का आश्रय लेते हैं।

इसी प्रकार साधु स्त्री कथा भोजनकथा आदि विकथाओ म भी अपना अमूल्य समय नष्ट नही करते हैं। प्रत्युत व आत्मपणी विक्षेपणो

---

१ मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउजदे जो हु।
इड्ढिरस सा हेदुं अभिओग भावण कुणइ ॥१८२॥

२ एदाहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ।
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसायरमणतं।

संवेगिनी और निर्वेदिनी इन कथाओ को करते हैं।[1]

तत्त्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। परमत की एकान्तदृष्टियों का शोधन खंडन करके स्वसमय की स्थापना करने वाली विक्षेपणी कथा है। विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली संवेगिनी कथा है अथवा पुण्य के फल को कहने वाली संवेदिनी कथा है।

शंका—पुण्य के फल क्या हैं ?

समाधान—तीर्थंकर गणधर ऋषि चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं[2]।'

वैराग्य को उत्पन्न करने वाली निर्वेदिनी कथा है अथवा पाप के फलों को कहने वाली निर्वेदिनी कथा है।

पाप के फल क्या हैं ?

नरक तिर्यञ्च और कुमानुष की योनियों मे जन्म, जरा मरण व्याधि वेदना और दारिद्र्य आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं[3]।

---

१ आक्षेपिणी तत्त्वविधानभूता विक्षेपणी तत्त्वदिग्न्तशुद्धिः।
संवेगिनी धर्मफलप्रपञ्चा निर्वेदिनी चाह कथा विरागाम् ॥६५॥

—धवला० पु० १ पृ० १०७

२ काणि पुण्णफलाणि तित्थयरगणहररिसिचक्कवट्टिबलदेववासुदेवसुरविज्जाहरिद्धीओ।

३ णिव्वेयणी णाम पावफलसंकहा। काणि पावफलाणि ? णिरयतिरियकुमाणुसजोणीसु जाइजरामरणवाहिवेयणादालिद्दादीणि।'

—धवला पुस्तक १, पृ० १०६

८ सामयिक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—क्या साधु मंदिर धर्मशाला या घर आदि में ठहर सकते हैं ?

उत्तर—ठहर सकते हैं। चतुर्थ काल में भी ठहरते थे ऐसे उदाहरण मौजूद हैं। यथा— एक समय सुरमन्यु श्रीमन्यु श्रीनिचय सर्वसुन्दर जयवान विनयलालस और जयमित्र ये सप्त ऋषि अयोध्या में आहारार्थ आये। आहार के अनंतर शुद्ध निर्दोष प्रवृत्ति करने वाले मुनियों से व्याप्त ऐसे अर्हत भगवान् के उस मंदिर में गये जहाँ कि मुनिसुव्रत की प्रतिमा विराजमान थी। ये साता ऋषि चार अंगुल अधर चल रहे थे। मंदिर में विद्यमान श्रीद्युति भट्टारक (आचार्य) ने इन्हें देखा। ऋषियों ने श्रद्धा से पैदल ही मंदिर में प्रवेश किया तथा द्युतिभट्टारक ने खड़े होकर नमस्कार करना आदि भक्ति से विधिवत् उनकी पूजा की।[1] यह रामचन्द्र के समय की बात है। और भी देखिये— घटगांव में देविल कुंभार और धर्मिल नाई ने यात्रियों के ठहरने हेतु एक धर्मशाला बनवाई। एक दिन देविल ने एक दिगंबर मुनि को लाकर वहाँ ठहरा दिया। धर्मिल का पता चलते ही मुनि को हाथ पकड़कर निकाल दिया और एक संन्यासी को लाकर ठहरा दिया। धर्मशाला से निकल कर वे मुनि एक वृक्ष के नीचे रात भर डांस मच्छर आदि के उपसर्ग सहते रहे[2]।'

[3]उज्जयिनी के श्मशान में मणिमाली मुनि मुर्दे के आसन बांध कर ध्यानस्थ थे। एक मंत्रवादी ने मुर्दा समझकर उनके मस्तक पर चूल्हा रख कर खीर बनाना शुरू किया। अग्नि के उपसर्ग से मुनि के मस्तक से खीर गिर गई। अनंतर प्रातः पता चलने पर जिनदत्त सेठ ने आकर मुझे उठाकर अपने घर ले आया इलाज कर अच्छा किया। इधर मुनि नीरोग

---

१ आर्हतं भवनं जग्मुः शुद्धसंयतसंकुलं।
यत्र त्रिभुवनानंदः स्थापितो मुनिसुव्रतः ॥२२॥

अभ्युत्थानतमस्यादिविधिना द्युतिनार्चिता ॥२४॥

—पद्म पु० पर्व ९२

२ आराधना कथाकोष, कथा सं० ११२

३ श्रेणिकचरित्र सर्ग ११।

गिरनार पर्वत पर पहले वन्दना हेतु पाषाण की देवी की मूर्ति को बुलवा दिया था कि 'सत्यपंथ निग्रंथ दिगम्बर' इत्यादि।

श्री अकलंकदेव ने राजा की सभा में बौद्धों के गुरु से और उनकी आराध्य तारादेवी से छह महीने तक शास्त्रार्थ करके बौद्धों की पराजय की और अपने जैनधर्म की ध्वजा फहराई'।[1]

(५) प्रश्न—क्या साधु संघ के ठहरने आदि की चिन्ता करते हैं?

उत्तर—हाँ कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं कहा है कि संघ का संग्रह अनुग्रह और पोषण तेसिं' उसका पोषण करना, अशन पान आदि की चिन्ता करना। उदाहरण देखिये— श्रीसुदत्ताचार्य संघ के ठहरने हेतु राजपुर नगर के बाहर उद्यान, श्मशान आदि का अवलोकन करते हैं। किन्तु वे स्थान संघ के लिए अयोग्य समझकर पुनः मुनिमनोहर मेखला पर्वत को योग्य समझकर उसपर ठहर जाते हैं'।[2]

(६) प्रश्न—क्या साधु आग्रहपूर्वक किसी को दीक्षा आदि देते दिलाते हैं?

उत्तर—हाँ यदि वे समझते हैं कि ये मेरे निमित्त से मोक्षमार्ग में लग जायेगा तो अवश्य प्रेरणा विशेष करते हैं। यथा— 'वारिषेण मुनि अपने मित्र पुष्पडाल को ले आकर उसकी इच्छा बिना भी दीक्षा दिला दी। जब वह अस्थिर हुआ घर जाने लगा तब उसे अपने घर ले जाकर अपनी स्त्रियों को दिखाकर उन्हें लेने के लिए कहा तब वह लज्जित होकर वापस धर्म में स्थिर हो गया[3]। भावदेव ने अपने भाई भवदेव को दीक्षा दिला दी। उसकी स्थिरता न होने से एक दिन वह भवदेव मुनि अपने घर जा रहा था कि मार्ग के मंदिर में अपनी पत्नी जो आर्यिका वेष में थी उससे सम्बोधन पाकर पुनः स्थिर हो गया। यही आगे जंबूस्वामी हुए हैं'।[4] जबरदस्ती से किया गया धर्म ग्रहण की गई दीक्षा भी संसार समुद्र से पार करने वाली ही होती है।

(७) प्रश्न—क्या आचार्य दीक्षार्थी के जाति कुल आदि का विचार करते हैं?

---

१ आराधना कथाकोश।
२ यशस्तिलकचम्पू प्र० आश्वास पृ० ४० से ७० तक।
३ आराधना कथाकोश कथा १२।
४ जंबूस्वामी चारित्र अ० २।

उत्तर—अवश्य करते हैं, क्योंकि आगम में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों के मनुष्य को ही जैनेश्वरी दीक्षा का आदेश दिया है। तथा दासापों जातिच्युत, पतित अथवा लोकनिंद्य भी नहीं होना चाहिये। यथा—

'सुदेश सुकुल और सुजाति में उत्पन्न हुए ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हैं जो कि कलंक रहित समर्थ हैं यह सज्जनों द्वारा जिनमुद्रा उन्हें ही देनी चाहिए। कहा भी है—सुदेश कुल और जाति में उत्पन्न ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य में ही अर्हन्त के लिंग की स्थापना की जाती है निंद्य या बालक आदि में नहीं। जो जाति आदि से पतित हैं उनको यह विद्वानों द्वारा पूज्य जिनमुद्रा नहीं देनी चाहिए। जो रत्नों की माला सत्पुरुषों के धारण करने योग्य होती है वह कुत्ते के गले में नहीं पहनाई जाती है।'[1]

जैनेन्द्र व्याकरण में श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानाम् ॥९७॥[2]

जो वर्ण से—जातिविशेष से अर्हत रूप—निर्ग्रन्थता के अयोग्य हैं उनमें द्वन्द्व समास करने पर नपुंसक लिंग का एकवचन होता है। यथा—

तक्षायस्कारं—बढ़ई और लुहार रजकतन्तुवाय-धोबी और जुलाहा। 'वर्ण से ऐसा क्यों कहा ? तो मूकवधिरौ गूँगा और बहरा इसमें वर्ण का सम्बन्ध नहीं होने से एकवचन नहीं हुआ। अर्हद्रूप के लिए अयोग्य हो ऐसा क्यों कहा तो ब्राह्मणक्षत्रियौ— ब्राह्मण और क्षत्रिय ये वर्ण

---

१ सुदेशकुलजात्यंगेब्राह्मणे क्षत्रिये विशि।
निष्कलंके क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम् ॥८८॥
उक्तं च—
ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिजे।
अर्हत स्थाप्यते लिंगं न निंद्यबालकादिषु ॥
पतितादेर्न सा देया जैना मुद्रा बुधार्चिता।
रत्नमाला सतां योग्या मण्डले न विधीयते ॥
—अनगार पृ० ६७८ ६७९

२ वर्णेनार्हद्रूपायोग्यानां ॥९३॥
वर्णेन जातिविशेषेणार्हद्रूपस्य नग्नत्वस्यायोग्यानां द्वंद्व एकवद् भवति। तक्षायस्कारं। इत्यादि —शब्दार्णवचन्द्रिका पृ० ३५ जैनेन्द्रमहावृत्ति

से और लिंग से लिंग अर्थात् दिगम्बर मुनि रूप जिनमुद्रा के लिए योग्य हैं इसलिए इनमें भी इस भाग में विचार होता है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य ही जिनमुद्रा के योग्य हैं।

श्रीकुन्दकुन्देव ने भी आचार्य भक्ति में स्पष्ट कहा है—

आप देश कुल और जाति से शुद्ध हैं विशुद्ध मन वचन, काय से संयुक्त हैं। ऐसे हे आचार्यदेव! आपके पादकमल इस लोक में हमारे लिए नित्य ही मंगलस्वरूप होवें[1]।

(८) प्रश्न—क्या साधु अपने घर वालों को भी जबरदस्ती धर्म में लगा सकते हैं? या दीक्षा दे सकते हैं?

उत्तर—हाँ अनेकों उदाहरण हैं। भावदेव ने ही अपने भाई भवदेव को बिना इच्छा के ही निकाला और दीक्षा दिलाई। अन्य भी उदाहरण देखिये— दिग्विजय के प्रसंग में रावण ने माहिष्मती के राजा सहस्ररश्मि को बांधकर जेल में डाल दिया। तब उनके पिता जो कि ऋद्धिधारी महामुनि थे वे वहाँ रावण की सभा में आ गये। विनयोपचार के अनंतर बोले कि हे रावण! तुम मेरे आत्मज (पुत्र) को छोड़ दो। रावण के द्वारा छोड़े जाने पर उसने विरक्त होकर पिता के साथ ही जाकर दीक्षा ले ली[2]।

तथा यदि कोई विशेष बुद्धिमान् हैं उनसे विशेष धर्म होने वाला है तो भी वे परोपकार करते हैं। यथा— श्री पुष्पदंत मुनिराज ने वनवासक ग्राम में आकर अपने भानजे जिनपालित को साथ लिया और मुनिदीक्षा देकर षट्खंडागम सूत्र बनाकर पढ़ाये[3]।

---

१ देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।
तुम्ह पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं ॥१॥
—आचार्यभक्ति क्रियाकलाप पृ० २१४

२ पराभिभवमात्रेण क्षत्रियाणां कृतार्थता।
मतः सहस्रकिरण ततो मुंच ममांगजं ॥१४७॥—पद्म पु० १० प० २३५

३ ... य ... पुष्पदंतनाममुनिः।
जिनपालिताभिधानं दृष्ट्वासौ भागिनेयं स्वं ॥१३२॥
दत्त्वा दीक्षां तस्मै तेन समं देशमेत्य वनवासं।

अथ पुष्पदंतमुनिरप्यध्यापयितुं स्वभागिनेयं तं।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसंहार्यैव षड्भिरिह खंडैः ॥१३४॥ —श्रुतावतार

(९) प्रश्न—क्या साधु घर का मोह छोड़कर पुन शिष्या को इकट्ठा कर सघ बढाते हैं ? या आर्यिकाओ का भी रखते हैं ?

उत्तर—अवश्य यह तो शिष्या का सग्रह करना अनुग्रह करना आदि विधान तो आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने ही कहा है। उदाहरण—श्री सुन्ताचाय का सघ बहुत ही विशाल था। उसम मुनि आर्यिकायें क्षुल्लक क्षुल्लिकायें सभी थे। तभी यो क्षुल्लक युगल—अभय रुचि क्षल्लक और अभयमता क्षुल्लिका को गाँव में आहाराथ भेजा था। श्री कुन्दकुन्दस्वामी न भी मूलाचार म आर्यिकाओ को प्रायश्चित दने का और उनके नेतृत्व—करने का आदेश अनुभवी प्रौढ कुशल आचाय को दिया है। नवदीक्षित लघुवयस्क को आर्यिकाओ के गणधर आचाय बनने का निषेध किया है[1]।

(१०) प्रश्न—क्या साधुओ या आर्यिकाओ के पास ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणी या अव्रती जन रह सकते हैं ?

उत्तर—हा रह सकते हैं। धरसेनाचाय ने ब्रह्मचारी के हाथ से मुनियो के पास पत्र भेजा था कि हमारे श्रुतज्ञान को ग्रहण करने म समर्थ ऐसे दो मुनि हमारे पास भेज दो[2]।

पद्मश्री आर्यिका के पास अनन्तमती रहती थी। जिनदत्त की पत्नी उसे आगन म चौक पूरने हेतु बुला लाई। तब चौक पूरा हुआ देखकर प्रियदत्त ने उस कन्या से मिलने का कहा। वह अनन्तमती उसकी कन्या थी[3]।

श्री गोवर्धन आचाय न आठ वष क बालक भद्रबाहु को उनके पिता से मागकर साथ लिया और पढाया। तब ये छात्र अव्रती ही थे। अनतर दीक्षित हुए हैं[4]।

तत्त्वार्थवृत्ति म कहा कि पुलाक मुनि के रात्रि भोजन के ग्रहण आदि रूप मूलगुणो मे विराधना कैसे सभव है ? तब बताया है कि यदि कदाचित् छात्रो को रात्रि में खाने खिलाने को वह दवें ऐसा समझकर

---

१ मूलाचार श्रीकुदकुद कृत।

२ समुन्तिमुनीन प्रति ब्रह्मचारिणा प्रापयल्लेख ॥१०६॥ —श्रुतावतार

३ आराधना क को ।

४ भद्रबाहु चारित्र।

उत्तर— पांचों पाडवों में से भीम मुनिराज ने एक बार वृत्तिपरिसंख्यान किया कि 'भाले के अग्र भाग से दिया हुआ आहार लूँगा तब छह महीने के बाद यह नियम पूर्ण होकर इन्हें आहार मिला[1]।'

(१४) प्रश्न—क्या साधु के पडगाहन के समय तमाम श्रावक भीड़ इकट्ठा करना व कोलाहल कर सकते हैं ?

उत्तर—तमाम श्रावक अपनी-अपनी भक्ति से पडगाहन करते हैं। उस समय कोलाहल भी होने लगता है। उदाहरण-जिस समय रामचन्द्र महामुनि नन्दस्थली नगरी में आहारार्थ आये उस समय उनके पड़गाहन के समय इतना कोलाहल हुआ कि हाथियों ने आलानस्तंभ तोड़ दिये। अनेकों स्त्रियाँ झारी आदि लेकर खड़ी हो गईं अनेकों पुरुष जल भरे कलश ले लेकर आ गये। हे स्वामिन्! यहाँ आइये हे स्वामिन्! यहाँ ठहरिये। इत्यादि से पड़गाहन कर रहे थे[2]।

(१५) प्रश्न—क्या साधुओं का आहार देखने के लिए लोग इकट्ठे हो सकते हैं ?

उत्तर—हाँ आहार दान देखकर भी अनुमोदना से वैसा ही पुण्य मिल जाता है। यथा— राजा वज्रजंघ वन में आहार दे रहे थे। उनके मंत्री आदि का ने देखा पुण्यबंध किया और नकुल सूकर वानर तथा सिंह ने भी देखा। राजा वज्रजंघ ने आहार के बाद मुनि से सभी के पूर्वभव पूछे। मुनि ने पूर्वभव बताकर भविष्य भी बताया कि ये मंत्री आदि और नकुल आदि सभी आपके साथ-साथ सुख भोगते हुए आपके ही पुत्र होकर मोक्ष जायेंगे। अभी इन नकुल सिंह आदि जीवों ने आहार दान की अनुमोदना से उत्तम भोगभूमि की आयु का बंध किया है[3]।

---

[1] [illegible] ॥

— हरिवंश पु० सर्ग ६१

[2] [illegible] ॥२०॥

— पद्म पु० प० १२० प० १९८

[3] [illegible] ॥

— आदि पु० प० ८ प० १८०

"मद्गुण चारण मुनि के आहार को देखते हुए अपने को धन्य मान रहा था। द्वितीय दिन ही मरकर आहारदान की अनुमोदना के प्रभाव से स्वर्ग चला गया। पुनः कालांतर में धन्यकुमार होकर नव निधियों के भोग को प्राप्त हुआ है[1]।

(१९) प्रश्न—क्या साधु श्रावक के लिये ग्राम में या राजसभा में या श्रावक के घर आदि में आ सकते हैं?

उत्तर—हाँ विशेष धर्मलाभ कराने हेतु कदाचित् आ सकते हैं। यथा—'एक बार वत्सपुर शहर के राजा धनदत्त और श्रीवदत्त मंत्री के साथ राजमहल की छत पर बैठे थे। आकाश में जाते हुए चारणऋषि को देखकर उनका आह्वान किया। उन्होंने आकर धर्मोपदेश दिया। जिससे श्रीवदत्त बुद्धधर्मी जैन बन गया। पुनः श्रीवदत्त बौद्धगुरु के भड़काने से राजसभा में मुनियों की चर्चा करने पर झूठे बोल दिया कि मैंने चारणमुनि नहीं देखे हैं। तत्काल ही उसकी आँखें फूट गईं।[2]

जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में वज्रजंघ-श्रीमती के वर्णन में शृंगार रस का वर्णन किया है। लोगों को उनके चारित्र पर आशंका होने से उन्होंने राजसभा में सबको बुलाकर स्वयं खड़े होकर उसी शृंगार रसयुक्त काव्य को पढ़ा। उनकी निर्विकारिता देखकर विकार को प्राप्त हुए अनेक लोग उनसे क्षमा याचना करने लगे। वज्रजंघ और श्रीमती के जीव जब भोगभूमि में आर्य-आर्या थे तब किसी समय दो चारणमुनि आकाश मार्ग से वहाँ भोगभूमि में उनके पास पहुँचे। उन्हें धर्मोपदेश दिया सम्यक्त्व ग्रहण कराया और बताया कि तुम्हारे महाबल विद्याधर की पर्याय में मैं तुम्हारा स्वयंबुद्ध मंत्री था। उसी समय के धर्म प्रेम से मैं यहाँ तुम्हें संबोधने आया हूँ[3]।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र लक्ष्मण के मोह से छूटकर जब बोध को प्राप्त हुए तब सभा में विराजमान थे उसी समय अर्हद्दास सेठ उनके दर्शन हेतु आये, सो राम ने उससे मुनि संघ की कुशल पूछी। सेठ ने कहा—हे महाराज! आपके इस कष्ट से पृथ्वीतल पर मुनि भी परम व्यथा को प्राप्त हुए हैं। मुनिसुव्रत भगवान् की वंश परंपरा के धारक आकाशगामी

---

१ पुण्यास्रवकथाकोष पृ० ३२४।
२ आराधना क० को० कथा न० १७।
३ आदि पु० प० ८ पृ० २०१

अन्यत्र भी है—अहृतपुण्य को ढूंढते हुए सेठ अनोव ने उसे देखा वह भागने लगा, समझाने पर भी भागता ही गया तब संध्या हो गई है ऐसा सोचकर सेठ वापस चला गया। वह बालक वहीं वन में एक गुफा के द्वार पर खड़ा हुआ। उसका द्वार पाषाण से ढँका हुआ था। अंदर में मुनिराज किसी शिष्य को धर्म का स्वरूप समझा रहे थे। उसने सुना। अनंतर व्याघ्र ने आकर उसे खा लिया वह मरकर देव हो गया।

(१९) प्रश्न—क्या साधु यात्रा कर सकते हैं?

उत्तर—मूलाचार आचारसार आदि में तो मुनियों के ईर्यापथसमिति में यात्रा आदि हेतु ही मुख्य बताये हैं। तथा पुराणों में भी उदाहरण मिलते हैं। यथा—अरविंद मुनिराज मसघ सम्मेदशिखर की यात्रा के लिये जा रहे थ। एक वन में हाथी ने उपद्रव किया। अनतर मुनिराज को देखकर बाम को प्राप्त हुआ मुनिराज म अणुव्रत लकर आगे जाकर वहीं जीव भगवान् पार्श्वनाथ हुआ है[१]।' और भी अनेक उदाहरण हैं।

'धन्यकुमार चरित्र म मुनि द्वारा रात्रि में उपदेश देने का वर्णन आता है।

(२०) प्रश्न—क्या साधु भगवान् का अभिषेक देख सकते हैं?

उत्तर—हा देख सकते हैं। विशेष अभिषेक के समय तो साधु सिद्ध चैत्य पंचगुरु और शांतिभक्ति पढ़कर वदना करें ऐसा आचारसार आदि में विधान है जो नैमित्तिक क्रिया में बताया जा चुका है। अभिषेक विधान में भी कहा है कि महाभिषेक लक्षण जिनधर्म की प्रभावना के लिए हे निग्रंथो के आचार्यों! आप लोग प्रसन्न होइये यहा पधारिये। कोई प्रश्न करता है कि क्या महाभिषेक के समय निग्रंथ आचार्य ही आते हैं अन्य यति नहीं आते हैं? तो ऐसी बात नहीं है निग्रंथार्या' ऐसा कहने से सभी दिगबर मुनि आर्य-देशव्रती (क्षुल्लक ऐलक आदि) और आर्यिकायें इन सबका ग्रहण हो जाता है। इसलिये सभी यहा आइये[३]।

---

१ उत्तरपुराण प० ७३ प ३०४।

२ सध्या बभूवति ततोऽनुयातु युक्तं न मे साधुजनेन दृष्या।
सन्नातरस्थो मुनिरागमाथ, भव्याय जिज्ञासुरुवाच सूत्रम् ॥
—धन्यकुमार च० प ६०

३ निग्रंथार्या प्रमाद कुरुत परमिहाधत्त सद्मन्यीप्स्ये।
वृत्ति—महाभिषेकलक्षणसमीचीनजिनधर्मप्रभावनार्थं। अत्राह
अत्र कि निग्रंथार्या आचार्यवर्या एव समायांति

आदिपुराण में भी कहा है— मेरु पर्वत के मस्तक पर स्फुरायमान होता हुआ जिनेंद्र भगवान् के जन्माभिषेक का जलप्रवाह हम सबकी रक्षा करे जिसे किन्नरों ने बड़े आनंद से, देवियों ने आश्चर्य से देखो के हाथियों ने सूंड ऊँची उठाकर बड़े भय से, चारण ऋद्धिधारी मुनियों ने एकाग्रचित्त होकर बड़े आनन्द से और विद्याधरों ने 'यह क्या है' ऐसी शंका करते हुए देखा था[1]।

(२१) प्रश्न—क्या साधु भक्तों के भव भवांतर बतलाते हैं ?

उत्तर—हां अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी मुनि पूछने पर बतलाते हैं। प्रथमानुयोग में ऐसे अनेकों उदाहरण देखने को मिलते हैं।

(२२) प्रश्न—क्या साधु आहार के समय जाति व्यवस्था आदि पर लक्ष्य रखते हैं ?

उत्तर—अवश्य रखते हैं। यथा—दुर्भाव, अशुचि और सूतक दोषों से सहित जन, रजस्वला स्त्री या जातिसंकर आदि से दूषित लोग यदि आहार देते हैं अथवा जो कुपात्रों में दान देते हैं वे इस पाप मिश्रित पुण्य से कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं[2]।'

(२३) प्रश्न—क्या स्त्रियां मुनियों के चरण आदि का स्पर्श कर सकती हैं ?

उत्तर—चंदना ने जब भगवान् महावीर का पडगाहन किया उस समय आहार देने में वह अकेली थी। उसने चरण प्रक्षालन आदि नवधा भक्ति अवश्य की होगी।

नायांति ? तत्र निग्रंथार्या इत्युक्ते सर्वेऽपि दिगंबरा आर्या देशव्रतिन आर्यिकाश्च भवंति। —अभिषेकपाठसंग्रह पृ० ११७

१ सानंदं त्रिदशेश्वरैः सचकितं देवीभिरुत्पुष्करैः
सत्रासं सुरवारणैः प्रणिहितैराप्तादरं चारणैः।
साशंकं गगनचरैः किमिदमित्यालोकितो यः स्फुरन्
मेरोर्मूर्ध्नि स नोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाम्भःप्लवः ॥२१६॥
—आदि पु० प० १३ पृ० ३०३

२ दुब्भावअसुचिसूदगपुप्फवईजाइसंकरादीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते ॥९२४॥
—त्रिलोकसार पृ० ७०५

आदिपुराण म भी कहा है—' मेरु पवत के मस्तक पर स्फुरायमान होता हुआ जिनेंद्र भगवान् क जन्माभिषेक का जलप्रवाह हम सबकी रक्षा करे जिसे कि इन्द्रा ने बडे आनद से, देविया ने आश्चर्य से, देवा के हाथियो ने सूड ऊँची उठाकर बडे भय स, चारण ऋद्धिधारी मुनिया ने एकाग्रचित्त होकर बडे आदर से और विद्याधरा ने 'यह क्या है ऐसी शका करते हुए देखा था'[1]।

(२०) प्रश्न—क्या साधु भक्तो के भव भवान्तर बतलाते हैं ?

उत्तर—हा अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी मुनि पूछने पर बतलाते हैं। प्रथमानुयोग मे ऐसे अनेका उदाहरण देखने को मिलत हैं।

(२२) प्रश्न—क्या साधु आहार के समय जाति व्यवस्था आदि पर लक्ष्य रखते हैं ?

उत्तर—अवश्य रखते हैं। यथा—दुर्भाव अशुचि और सूतक दोषा से सहित जन, रजस्वला स्त्री या जातिसंकर आदि से दूषित लोग यदि आहार देते हैं अथवा जो कुपात्रा मे दान देते हैं वे इस पाप मिश्रित पुण्य से कुभोगभूमि मे जन्म लेते हैं[2]।

(२३) प्रश्न—क्या स्त्रियाँ मुनिया के चरण आदि का स्पर्श कर सकती हैं ?

उत्तर—चंदना ने जब भगवान् महावीर का पडगाहन किया उस समय आहार देने म वह अकेली थी। उसने चरण प्रक्षालन आदि नवधा भक्ति अवश्य की होगी।

मायाति ? तन्न निषधार्या इत्युक्त सर्वेऽपि न्गिबरा आर्या देशव्रतिन आर्यिकाश्च भवति। —अभिषेकपाठसग्रह पृ० ११७

१ सानन्दं त्रिदशेश्वरै सचकितं देवीभिरुत्पुष्करै
सत्रास सुरवारणै प्रणिहितैरासाद्य चारणै ।
साशङ्क गगनचरै किमिदमित्यालोकितो य स्फुरन्
मेरोर्मूर्ध्नि स नोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाम्भ प्लव ॥२१९॥
—आदि पु० प० १३ पृ० ३०१

२ दुब्भावअसुचिसूदगपुप्फवईजाइसंकरादीहिं ।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायंते ॥९२४॥
—त्रिलोकसार पृ० ७०९

'जब राजा ने यशोधर मुनिराज के गले म मृतक सर्प डाला था तब मालूम होने पर रानी चेलना राजा के साथ रात्रि म ही वहां गई। उसने मुनि के शरीर म चिंवटी दूर कर मुलायम वस्त्र से अवशिष्ट कीडियों को भी दूर कर गरम पानी से धोया और सताप की निवृत्ति के लिये शरीर पर शीतल चदन आदि का लेप किया । महामुनि ने भी महिला के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया ऐसा कथन है। यथा— 'गुरुदेव प्रीतिकर मुनि ने आय वज्रजघ और आर्या श्रीमती को उपदेश देकर उन्हें सम्यक्त्व ग्रहण कराया। पुन जिन्होंने हर्षपूवक चिह्नों से अपने मनोरथ की सिद्धि को प्रकट किया है ऐसे दोनो दंपतियो को दोनो ही मुनिराज धमप्रेम से बार-बार स्पर्श कर रहे थे[2]।

(२४) प्रश्न—क्या साधु श्रावको को मंत्र व्रत आदि दे सकते हैं ?

उत्तर—धमप्रभावना परोपकार आदि की इच्छा से दे सकते हैं। मुनिराज ने ही मनासुन्दरी को पति का कुष्ट दूर होने हेतु सिद्धचक्र विधान जाप्य आदि का अनुष्ठान बताया था। सभी व्रतो की कथाओं में भी मुनियों के द्वारा ही व्रत दिये जाने का विधान है। यदि श्रावक बिना गुरु के कोई व्रत लेते हैं तो उसका फल नहीं कहा है[3]।

मूलाचार और मूलाराधना में भी धर्मप्रभावना आदि हेतु स्वयं भी मंत्रादि कर सकते हैं ऐसा कहा है। जैसा कि वंदनी आदि आचार्यों के वर्णन में बताया जा चुका है।

धरसेनाचाय ने पुष्पदत और भूतबलि मुनियों की योग्यता की परीक्षा हेतु मंत्र अपने को दिया था।

यदि कोई साधु किसी को मिथ्यात्व से छुडाकर धम में लगाते हैं। उनको मंत्रादि द्वारा उसी का सिद्धि का प्रलोभन देकर कुदेव आदि की भक्ति से निवृत्त करते हैं तो कोई दोष नहीं है।

---

1 [illegible] १, ५ ११०।
2 [illegible]
[illegible] ॥१६५॥
[illegible]

(२५) प्रश्न—क्या साधु जहाँ विहार करते हैं वहाँ शुभ होता है?

उत्तर—अवश्य। तपस्वियों के प्रभाव से अतिशय लाभ होता है। यथा—रावण के मरने के बाद उसी दिन अंतिम प्रहर में अनंतवीर्य मुनिराज छप्पन हजार आकाशगामी मुनियों के साथ वहाँ आकर कुसुमायुध नामक उद्यान में ठहर गये। उसी रात्रि में अनंतवीर्य महामुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

गौतम स्वामी कहते हैं कि यदि रावण के जीवित रहते हुए ये महामुनि लंका में आये होते तो लक्ष्मण के साथ रावण की घनी प्रीति हो जाती। क्योंकि जिस देश में ऋद्धिधारी मुनिराज और केवली विद्यमान रहते हैं वहाँ दो सौ योजन (८०० कोस) तक की पृथ्वी स्वर्ग के सदृश सब प्रकार के उपद्रवों से रहित हो जाती है और उनके निकट रहने वाले राजा वैर रहित हो जाते हैं[1]। यहाँ तो ऋद्धिधारी मुनि की बात है। सामान्य मुनियों के विहार से भी शुभ होता है। अन्य संप्रदाय में भी कहा है—

'हे अर्जुन! तुम रथ पर चढ़ जावो और गांडीव धनुष को भी धारण करो। मैं इस पृथ्वी को जीती हुई ही समझ रहा हूँ, चूँकि सामने निर्ग्रन्थ यति दिख रहे हैं[2]।' ऐसा श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा।

ज्योतिषशास्त्र में भी कहा है—'पद्मिनी स्त्रियाँ, राजहंस और निर्ग्रन्थ तपोधन जिस देश में रहते हैं उस देश में शुभ मंगल हो जाता है[3]।'

■

---

१ रावणे जीवति प्राप्तो यदि स्यात् स महामुनिः।
लक्ष्मणेन समं प्रीतिर्जाता स्यात्तस्य पुष्कला ॥५४॥
—पद्म पु० प० ७८, प० ८०

२ आरोह रथं पार्थ! गांडीवं चापि धारय।
निर्जितां मेदिनीं मन्ये निर्ग्रन्थो यतिरग्रतः ॥

३ पद्मिन्यो राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः।
यद्देशमभिगच्छन्ति तद्देशे शुभमादिशेत् ॥
—बृहत्कथाकोष

९ दिगम्बर वेष से ही मुक्ति

परिग्रहत्याग महाव्रत में पूर्णतया संपूर्ण परिग्रह का त्याग हो जाता है तथा आचेलक्य नामा मूलगुण में वस्त्र का सर्वथा त्याग हो जाने से दिगंबर मुनि ही अट्ठाईस मूलगुणों के धारक साधु होते हैं। 'इसी से स्त्री मुक्ति का भी निषेध हो जाता है'[1]।

आर्षग्रन्थ में सम्मामिच्छाइट्ठिअसंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजदसंजद ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥ मनुष्यिनियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थानों में नियम से पर्याप्तक होती हैं।

इसी सूत्र की टीका में प्रश्नोत्तर में अच्छा समाधान किया है। यथा—

'शंका—इसी आर्षवचन से द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति सिद्ध हो जायेगी?

समाधान—नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होने से उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है अतएव उनके संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका—वस्त्र सहित में भी स्त्रियों के भावसंयम में कोई विरोध नहीं है?

समाधान—उनके भावसंयम नहीं है। अन्यथा—भावसंयम के मानने पर उनके भाव असंयम का अविनाभावी वस्त्रादि का ग्रहण नहीं बन सकता है। अर्थात् वस्त्रादि के रहते हुए भावसंयम असंभव है क्योंकि असंयम के बिना वस्त्रादि का ग्रहण हो नहीं सकता है।"

इस कथन से वस्त्र सहित पुरुष को भी भावसंयम असंभव है तो मुक्ति की बात ही बहुत दूर है।

शंका—पुनः स्त्रियों के चौदह गुणस्थान कैसे होते हैं।

समाधान—नहीं क्योंकि भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेद युक्त मनुष्यगति से चौदह गुणस्थानों के सद्भाव का अविरोध है'[2]।"

---

१ [illegible] नहीं है।

२ [illegible]

होते हैं परन्तु ये पर्याप्त मनुष्यनी के ही होते हैं अपर्याप्तक मनुष्यनी के नहीं। यहां क्षायिक सम्यक्त्व भाववेद की अपेक्षा से ही है[1]। अर्थात् यदि तीनों में कोई भी सम्यग्दर्शन हो जाता है तो वह जीव मरकर भाव स्त्रीवेद में भी नहीं जा सकता है द्रव्यस्त्रीवेद की तो बात बहुत दूर है। किंतु कोई कर्मभूमिज मनुष्य द्रव्य से पुरुष होकर भी यदि भाव से स्त्री वेदी है तो क्षायिक सम्यक्त्व ग्रहण कर सकता है। द्रव्यस्त्रीवेदी नहीं।

द्रव्यसे पुरुषवेदी ऐसे मुनि यदि भाव से स्त्री और नपुंसकवेदी हैं तो भी क्षपकश्रेणी चढ़कर मोक्ष चले जाते हैं। यथा—

"पुरुषवेद के उदय सहित जीव के श्रेणी चढ़ने पर पुरुषवेद का बंध व्युच्छित्ति और उदयव्युच्छित्ति एक काल में होती है। अथवा च शब्द से बंध की व्युच्छित्ति उदय के द्विचरम समय में होती है और शेष-स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेद के उदय सहित श्रेणी चढ़ने वाले जीव के पुरुष वेद का बंध व्युच्छित्ति उदय के द्विचरम समय में होती है[2]।

द्रव्यस्त्रीवेदी में उत्तमसंहनन का अभाव होने से भी मुक्ति संभव नहीं है। क्योंकि उत्तमसंहनन वाले पुरुष ही क्षपकश्रेणी पर चढ़कर शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों का नाश कर सकते हैं[3]। अन्य नहीं है। और कर्मभूमि की महिलाओं के तीन हीन संहनन ही होते हैं उत्तम संहनन नहीं होते हैं। ऐसा आगम वाक्य है।

भावस्त्रीवेदी या भाव नपुंसकवेदी मुनि के मनःपर्ययज्ञान 'आहारक

---

१ मानुषीणां त्रितयमप्यस्ति पर्याप्तिकानामेव नापर्याप्तिकानाम्। क्षायिकं पुनर्भाववेदेनैव। —सर्वार्थसिद्धि सूत्र ७

२ पुरिसोदयेण चडिदे बंधुदयाणं च जुगवदुच्छित्ती।
सेसोदयेण चडिदे उदयदुचरिमम्हि पुरिसबंधछिदी ॥४८८॥
—गोम्मट० कर्म०

३ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात् ॥ —तत्त्वार्थसूत्र

४ अंतिमतियसंहडणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिमतिगसंहडणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥३२॥
गोम्मट० कर्म०

५ वेदगुणमयहीणा इत्थीसदम्मि ते दु सव्वे वि ॥

६ इत्थिणउंसयवेदे आहारदुगूणया होंति।

ऋद्धि और तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं हो सकता है। यह विरोधता है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में केवलज्ञान, केवलदर्शन और मनःपर्यय इन तीन ज्ञान के बिना ९ उपयोग होते हैं। वेद तो नवमें गुणस्थान तक होता है और मनःपर्ययज्ञान छठे से हो जाता है अतः उनका निषेध ही हो गया तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में होने से वे अपगत वेदी के होते हैं इसलिये इनका भी निषेध किया गया है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में आहारकद्विक और अन्यतर दो वेद के बिना तिरेपन आस्रव होते हैं।

तथा भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद में भी तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विक के बंध का विरोध नहीं है उदय का ही विरोध है, क्योंकि उदय पुरुषवेद में ही निश्चित है[1]।'

आपग्रन्थ में भी कहा है कि स्त्रीवेदी प्रमत्तसंयत जीवों के आलाप कहने पर चार मनोयोग चार वचनयोग और औदारिककाययोग ये नव योग होते हैं किंतु आहारक और आहारक मिश्र योग नहीं होते। मनःपर्ययज्ञान के बिना आदि के तीन ज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम के बिना आदि के दो संयम होते हैं। यहाँ पर आहारकद्विक मनःपर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धि संयम के नहीं होने का कारण यह है कि आहारक द्विक मनःपर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धिसंयम के साथ स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय होने का विरोध है[2]।'

अन्यत्र भी लिखा है कि— पुरुष वेद का अनुभव करते हुए जो पुरुष क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए हैं। उसी प्रकार से शेष—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय से भी क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए ध्यान में उपयुक्त हैं वे

---

१ स्त्रीषण्ढवेद्योरपि तीर्थाहारकबंधो न विरुध्यते उदयस्यैव पुंवेदेषु नियमात्। —पंचसंग्रह, पृ० २३५

२ 'इत्थिवेद-पमत्तसंजदाणं भण्णमाणे णवजोग आहारदुगं णत्थि। मणपज्जवणाणेण विणा तिण्णि णाण, परिहारसंजमेण विणा दो संजम। कारण आहारदुगमणपज्जवणाण-परिहारसंजमेहि वेददुगोदयस्स विरोहादो।' —धवला पु० २, पृ० १८

सिद्ध हो जाते हैं। अर्थात् जो भावपुरुषवेद का अनुभव करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए हैं केवल भावपुरुषवेद से नहीं अपितु भाव स्त्रीवेद और भाव नपुंसकवेद से भी क्षपकश्रेणी पर चढ़कर शुक्लध्यान में उपयुक्त हैं वे द्रव्यपुरुष वेद वाले मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं।[1]

निष्कर्ष यह निकलता है कि द्रव्य से पुरुषवेदी ही निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण करके छठे आदि गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं। वे चाहे भाव से स्त्रीवेदी हों या नपुंसकवेदी। किन्तु द्रव्य से स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी जीव पंचम गुणस्थान से आगे नहीं जा सकते हैं और न वे दिगंबर वेष ही धारण कर सकते हैं।

दिगम्बर भेष के बिना सोलह स्वर्ग के ऊपर गमन भी असंभव है—

असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत ऐसे मनुष्य और तिर्यंच उत्कृष्टता से अच्युतकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते हैं। जो द्रव्य से निर्ग्रन्थ हैं और भाव से मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशसंयमी हैं वे अंतिम ग्रैवेयक पर्यंत उत्पन्न होते हैं इससे ऊपर नहीं।

सम्यग्दृष्टि महाव्रती सर्वार्थसिद्धि पर्यंत, सम्यग्दृष्टि भी भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच सौधर्म युगलपर्यंत और मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंच एवं पंचाग्नि साधक तापसी साधु उत्कृष्टता से भवनत्रिक पर्यंत हो जाते हैं।

नग्नाद लक्षणवाले चरक एकदंडी त्रिदंडी ऐसे परिव्राजक संन्यासी ब्रह्मकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते हैं। कांजिक आदि भोजन करने वाले आजीवक साधु अच्युतकल्प पर्यन्त ही उत्पन्न होते हैं आगे नहीं[2]।

---

१ पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥६॥

टीका—भावपुवेदमनुभवन्तो ये पुरुषा क्षपकश्रेणीमारूढा न केवल भावपुवेदेनैव अपि तु अभिलापरूपभावस्त्रीनपुंसकवेदोदयेनापि तथा क्षपकश्रेण्यारूढप्रकारेण शुक्लध्यानोपयुक्ताश्च ते द्रव्यपुवेदास्तु सिज्झंति सिद्धयति ॥ —प्राकृतसिद्धभक्ति क्रियाकलाप पृ० १६२

२ णरतिरियदेसअयदा उक्कस्सेणच्चुदोत्ति णिग्गथा।
णय अयद देसमिच्छा गेवज्जतोत्ति गच्छंति ॥५४५॥

टीका—द्रव्यनिर्ग्रन्था नरा भावनासंयता देशसंयता मिथ्यादृष्टयो वा उपरिमग्रैवेयकपर्यंतं गच्छंति।

ऋद्धि और तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं हो सकता है। यह विशे पता है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में केवलज्ञान, केवलदर्शन और मन पर्यय इन तीन ज्ञान के बिना ९ उपयोग होते हैं। वेद तो नवमें गुण स्थान तक होता है और मन पर्ययज्ञान छठे से हो जाता है अतः उसका निषेध ही हो गया तथा केवलज्ञान और केवल दर्शन तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में होने से वे अपगत वेदी के होते हैं इसलिये इनका भी निषेध किया गया है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में आहारकद्विक और अन्यतर दो वेद के बिना तिरेपन आस्रव होते हैं।

तथा भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद में भी तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विक के बंध का विरोध नहीं है उदय का ही विरोध है क्योंकि उदय पुरुषवेद में ही निश्चित है[1]।"

आगम ग्रन्थ में भी कहा है कि स्त्रीवेदी प्रमत्तसंयत जीवों के आलाप कहने पर "चार मनोयोग चार वचनयोग और औदारिककाययोग ये नव योग होते हैं किंतु आहारक और आहारक मिश्र योग नहीं होते।" मन पर्ययज्ञान के बिना आदि के तीन ज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम के बिना आदि के दो संयम होते हैं। यहाँ पर आहारकद्विक मनःपर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धि संयम के नहीं होने का कारण यह है कि आहारक द्विक मन पर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धिसंयम के साथ स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय होने का विरोध है[2]।'

अन्यत्र भी लिखा है कि—'पुरुष वेद का अनुभव करते हुए जो पुरुष क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए हैं। उसी प्रकार से शेष—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय से भी क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए ध्यान में उपयुक्त हैं वे

१ स्त्र्यादिवेदस्योदयेऽपि तीर्थाहारकद्वयो न विरुध्यते उदयस्यैव पुंवेदेषु नियमात्। —पंचसंग्रह पृ० २१५

२ 'इत्थिवेद पमत्तसंजदाणं भण्णमाणे णवजोग आहारदुगं णत्थि।..... मणपज्जवणाणेण विणा तिण्णि णाण परिहारसंजमेण विणा दो संजम कारण आहारदुगमणपज्जवणाण-परिहारसंजमेहि सह इत्थिवेदोदयस्स विरोहादो।'
—धवला पु० २ पृ० ४८१

सिद्ध हो जाते हैं। अर्थात् जो भावपुरुषवेद का अनुभव करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ हुए हैं केवल भावपुरुषवेद से नहीं अपितु भाव स्त्रीवेद और भाव नपुंसकवेद से भी क्षपकश्रेणी पर चढकर शुक्लध्यान में उपयुक्त हैं वे द्रव्यपुरुष वेद वाले मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं।"

निष्कर्ष यह निकलता है कि द्रव्य से पुरुषवेदी ही निर्ग्रंथ मुद्रा धारण करके छठे आदि गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं। वे चाहे भाव से स्त्रीवेदी हों या नपुंसकवेदी। किन्तु द्रव्य से स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी जीव पंचम गुणस्थान से आगे नहीं जा सकते हैं और न वे दिगंबर वेष ही धारण कर सकते हैं।

दिगम्बर भेष के बिना सोलहवें स्वर्ग के ऊपर गमन भी असंभव है—

असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत ऐसे मनुष्य और तिर्यंच उत्कृष्टता से अच्युतकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते हैं। जो द्रव्य से निर्ग्रंथ हैं और भाव से मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशसंयमी हैं वे अंतिम ग्रैवेयक पर्यंत उत्पन्न होते हैं इससे ऊपर नहीं।

सम्यग्दृष्टि महाव्रती सर्वार्थसिद्धि पर्यंत सम्यग्दृष्टि भी भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच सौधर्म युगलपर्यंत और मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंच एवं पंचाग्नि साधक तापसी साधु उत्कृष्टता से भवनत्रिक पर्यंत ही जाते हैं।

नग्नादि लक्षणवाले चरक एकदंडी त्रिदंडी ऐसे परिव्राजक संन्यासी ब्रह्मकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते हैं। कांजिक आदि भोजन करने वाले आजीवक साधु अच्युतकल्प पर्यन्त ही उत्पन्न होते हैं आगे नहीं[2]।

---

१ पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥६॥

टीका—भावपुंवेदमनुभवंतो ये पुरुषाः क्षपकश्रेणीमारूढा न केवलं भावपुंवेदेनैव अपि तु अभिलापरूपभावस्त्रीनपुंसकवेदोदयेनापि तथा क्षपकश्रेण्यारूढप्रकारेण शुक्लध्यानोपयुक्ताश्च ते द्रव्यपुंवेदास्तु सिज्झंति सिद्ध्यंति ॥ —प्राकृतसिद्धभक्ति क्रियाकलाप पृ० १६२

२ णरतिरियदेसअयदा उक्कस्सेणच्चुदोत्ति णिग्गंथा।
णर अयद देसमिच्छा गेवज्जंतोत्ति गच्छंति ॥५४५॥

टीका—द्रव्यनिर्ग्रंथा नरा भावेनासंयता देशसंयता मिथ्यादृष्टयो वा उपरिमग्रैवेयकपर्यंतं गच्छंति।

ऋद्धि और तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं हो सकता है। यह विशेषता है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में केवलज्ञान, केवलदर्शन और मनःपर्यय इन तीन ज्ञान के बिना ९ उपयोग होते हैं। वेद तो नवमें गुणस्थान तक होता है और मनःपर्ययज्ञान छठे से हो जाता है अतः उसका निषेध ही हो गया तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में होने से वे अपगत वेदी को होते हैं इसलिये इनका भी निषेध किया गया है।

यथा—स्त्रीवेद और नपुंसक वेद में आहारकद्विक और अन्यतर दो वेद के बिना तिरेपन आस्रव होते हैं।

'तथा भावस्त्रीवेद और भावनपुंसकवेद में भी तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विक के बंध का विरोध नहीं है उदय का ही विरोध है क्योंकि उदय पुरुषवेद में ही निश्चित है[१]।'

आप्तग्रन्थ में भी कहा है कि स्त्रीवेदी प्रमत्तसंयत जीवों के आलाप कहने पर चार मनोयोग चार वचनयोग और औदारिककाययोग ये नव योग होते हैं किंतु आहारक और आहारक मिश्र योग नहीं होते। मनःपर्ययज्ञान के बिना आदि के तीन ज्ञान, परिहारविशुद्धि संयम के बिना आदि के दो संयम होते हैं। यहाँ पर आहारकद्विक मनःपर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धि संयम के नहीं होने का कारण यह है कि आहारक द्विक, मनःपर्ययज्ञान और परिहारविशुद्धिसंयम के साथ स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय होने का विरोध है[२]।"

अन्यत्र भी लिखा है कि—'पुरुष वेद का अनुभव करते हुए जो पुरुष क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए हैं। उसी प्रकार से शेष—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय से भी क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए ध्यान में उपयुक्त हैं वे

---

१ 'स्त्रीषण्ढवेदयोरपि तीर्थाहारकबंधो न विरुध्यते उदयस्यैव पुंवेदेषु नियमात्।' —पंचसंग्रह, पृ० २३५

२ इत्थिवेद पमत्तसंजदाणं भण्णमाणे णवजोग आहारदुगं णत्थि। मणपज्जवणाणेण विणा तिण्णि णाण, परिहारसंजमेण विणा दो संजम कारणं आहारदुगमणपज्जवणाण-परिहारसंजमेहि वेददुगोदयस्स विरोहादो।' —धवला पु० २, पृ० ४८१

सिद्ध हो जाते हैं। अर्थात् जो भावपुरुषवेद का अनुभव करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए हैं केवल भावपुरुषवेद से नहीं अपितु भाव स्त्रीवेद और भाव नपुंसकवेद से भी क्षपकश्रेणी पर चढ़कर शुक्लध्यान में उपयुक्त हैं वे द्रव्यपुरुष वेद वाले मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं।[1]

निष्कर्ष यह निकलता है कि द्रव्य से पुरुषवेदी ही निग्रंथ मुद्रा धारण करके छठे आदि गुणस्थानों को प्राप्त करते हैं। वे चाहे भाव से स्त्रीवेदी हों या नपुंसकवेदी। किन्तु द्रव्य से स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी जीव पंचम गुणस्थान से आगे नहीं जा सकते हैं और न वे दिगंबर वेष ही धारण कर सकते हैं।

दिगम्बर भेष के बिना सोलह स्वर्ग के ऊपर गमन भी असंभव है—

असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत ऐसे मनुष्य और तियंच उत्कृष्टता से अच्युतकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते हैं। जो द्रव्य से निर्ग्रंथ हैं और भाव से मिथ्यादृष्टि असंयतसम्यग्दृष्टि अथवा देशसंयमी हैं वे अंतिम ग्रैवेयक पर्यंत उत्पन्न होते हैं इससे ऊपर नहीं।

सम्यग्दृष्टि महाव्रती सर्वार्थसिद्धि पर्यंत, सम्यग्दृष्टि भी भोगभूमिज मनुष्य और तियंच सौधर्म युगलपर्यंत और मिथ्यादृष्टि भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंच एवं पंचाग्नि साधक तापसी साधु उत्कृष्टता से भवनत्रिक पर्यंत हो जाते हैं।

नग्नाड लक्षणवाले चरक एकदंडी त्रिदंडी ऐसे परिव्राजक संन्यासी ब्रह्मकल्प पर्यंत ही उत्पन्न होते हैं। कांजिक आदि भोजन करने वाले आजीवक साधु अच्युतकल्प पर्यन्त ही उत्पन्न होते हैं आगे नहीं[2]।

---

१ पुंवेदं जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा।
सेसोदयेण वि तहा ज्झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥६॥

टीका—भावपुवेदमनुभवतो ये पुरुषा क्षपकश्रेणीमारूढा न केवल भावपुवेदेनैव अपि तु अभिलापरूपभावस्त्रीनपुंसकवेदोदयेनापि तथा क्षपकश्रेण्यारूढप्रकारेण शुक्लध्यानोपयुक्ताश्च ते द्रव्यपुवेदास्तु सिज्झंति सिद्धयति ॥

—प्राकृतसिद्धभक्ति क्रियाकलाप पृ० १६२

२ णरतिरियदसअयदा उक्कस्सेणच्चुदोत्ति णिग्गथा।
णय अयद देसमिच्छा गवज्जतोत्ति गच्छति ॥५४५॥

टीका—द्रव्यनिर्ग्रथा नरा भावनासंयता देशसंयता मिथ्यादृष्टयो वा उपरिमग्रैवेयकपर्यंत गच्छति।

आगम में कहा है—' चार' प्रकार के दान में प्रवृत्त कषायों से रहित पंचगुरुओं की भक्ति से युक्त, देशव्रत संयुक्त जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। सम्यक्त्व ज्ञान आर्जव लज्जा एवं शीलादि से परिपूर्ण स्त्रियां अच्युतकल्प पर्यन्त उत्पन्न होती हैं।

जो अभव्य जिनलिंग को धारण करने वाले और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। पूजा, व्रत, तप, दान, ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न निर्ग्रंथ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

मंदकषायी प्रियभाषी कितने ही चरक (साधुविशेष) और पारिव्राजक क्रम से भवनवासियों आदि को लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो कोई पंचेंद्रिय तिर्यंच संज्ञी जीव हैं अकामनिर्जरा से युक्त और मंदकषायी हैं वे सहस्रार कल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो तनुदंडन अर्थात् कायक्लेश से सहित (साधु) हैं तीव्र क्रोधी हैं ऐसे कितने ही जीव क्रमशः भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यंत जन्म लेते हैं[1]।

मज्झिमजिण [illegible] मद्दुवइ भोगभूमिजा सम्मा।
[illegible] मिच्छा भवणतिय तावसा य वरं ॥५४६॥
[illegible] परिव्वाजा बह्मालयदोत्ति आजीवा।
[illegible] ॥५४७॥

त्रिलोकसार पृ० ४११

1 [illegible] कप्पंतं [illegible] ॥५५८॥
[illegible] परिपुण्णा।
[illegible] ॥५५९॥
[illegible] उक्किट्ठतवसमेण संपुण्णा।
[illegible] ॥५६०॥
[illegible]।
[illegible] ॥५६१॥
[illegible] तिव्वकसा [illegible]।
[illegible] ॥५६२॥

इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित ऐलक अथवा आर्यिका भी सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं और वस्त्ररहित दिगंबर मुनि चाहे भाव से मिथ्यादृष्टि भी क्यों न हों नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा दिगंबर मुनि भावलिंगी ही नवअनुदिश पांच अनुत्तरों में जाते हैं। किन्तु अन्य संप्रदाय के[1] परमहंस नामक नग्न साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते हैं। अतः दिगंबर जैन मुनि हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

श्रीशुभचन्द्राचार्य भी कहते हैं—

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ है वह नपुंसक (नामर्द वा कायर) आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा?

"एक लंगोटी मात्र परिग्रह भी रखने पर उसको धोना सुखाना, सुरक्षा करना फट जाने पर याचना करना आदि अनेकों दोष आते हैं। पुनः निर्विकल्प अवस्था रूप शुक्लध्यान की सिद्धि असंभव है ही। यही कारण है कि दिगंबर साधु वृक्षों की छाल पत्ते चर्म और वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढकते हैं अतएव अलंकार परिग्रह और काम विकार से रहित नग्नमुद्रा को धारण करते हैं[3]।

इन्हीं सब कारणों से दिगंबर जैन संप्रदाय में स्त्रियों को इसी भव से मुक्ति का निषेध है ऐसा समझना।

यह दिगंबरत्व अपरिग्रह की चरम सीमा है जितेंद्रियता और निर्वि

जे पचेन्दियतिरिया सण्णी हु अकामणिज्जरेण जुदा।
मन्दकसाया केई जंति सहस्सारपरियंतं ॥५६३॥
तणुदंडणादिसहिया जीवा जे अमंदकोहजुदा।
कमसो भावणपहुदी केई जम्मंति अच्चुदं ताव ॥५६४॥

—तिलोय प० पृ० ६५३

1 परमहंसनामा जो जती सहस्रार ऊपर नहीं गती ॥

—चौबीस दंडक

2 बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्युक्तुमनीश्वरः।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥१७॥

—ज्ञानार्णव पृ० १६८

3 वस्त्रवल्कलाजिनपत्राद्यैरगाससंवरणं वरं।
आचेलक्यमलंकाराद्यङ्गसंगविवर्जितम् ॥४४॥ —आचारसार पृ० १७

इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित ऐलक अथवा आर्यिका भी सोलह स्वर्ग के ऊपर नही जा सकते हैं और वस्त्ररहित दिगंबर मुनि चाहे भाव से मिथ्यादृष्टि भी क्यों न हो, नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा दिगंबर मुनि भावलिंगी ही नवअनुदिश पांच अनुत्तरों में जाते हैं। किन्तु अन्य संप्रदाय के[1] परमहंस नामक नग्न साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते हैं। अतः दिगंबर जैन मुनि हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

श्री शुभचंद्राचार्य भी कहते हैं—

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ है वह नपुंसक (नामर्द या कायर) आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा?[2]

'एक लंगोटी मात्र परिग्रह भी रखने पर उसको धोना सुखाना, सुरक्षा करना फट जाने पर याचना करना आदि अनेकों दोष आते हैं। पुनः निर्विकल्प अवस्था रूप शुक्लध्यान की सिद्धि असंभव है ही। यही कारण है कि दिगंबर साधु वस्त्रों को छाल पत्ते चर्म और वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढंकते हैं अतएव अन्तरंग परिग्रह और काम विकार से रहित नग्नमुद्रा को धारण करते हैं[3]।

इन्हीं सब कारणों से दिगंबर जैन संप्रदाय में स्त्रियों को इसी भव में मुक्ति का निषेध है ऐसा समझना।

यह दिगंबरत्व अपरिग्रह की चरम सीमा है जितेन्द्रियता और निर्वि

जे पंचेंदियतिरिया सण्णी हु अकामणिज्जरण जुत्ता।
मंदकसाया केई जंति सहस्सारपरियंत ॥५६३॥
तणुदंडणादि सहिया जीवा जे अमंदकोहजुदा।
कमसो भावणपहुदी केई जम्मंति अच्चुदं जाव ॥५६४॥
—त्रिलोकसार पृ० ५५१

१ परमहंसनामा जो अन्यमती सहस्रार ऊपर नहीं जाते ॥
—[illegible] १२४

२ बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥१०॥
—ज्ञानार्णव पृ० १६८

३ [illegible]।
[illegible] ॥४०॥ —[illegible] पृ० १०

अन्यत्र भी कहा है— चार प्रकार के दान में प्रवृत्त कषायों से रहित, पंचगुरुओं की भक्ति से युक्त, देशव्रत संयुत जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, आर्जव, लज्जा एवं शीलादि से परिपूर्ण स्त्रियां अच्युतकल्प पर्यन्त उत्पन्न होती हैं।

जो अभव्य जिनलिंग को धारण करने वाले और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। पूजा, व्रत, तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न निर्ग्रंथ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

मंदकषायी प्रियभाषी कितने ही चरक (साधुविशेष) और परिव्राजक क्रम से भवनवासियों आदि को लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो कोई पंचेंद्रिय तिर्यंच संज्ञी जीव हैं अकामनिर्जरा से युक्त और मंदकषायी हैं वे सहस्रार कल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो तनुदंडन अर्थात् कायक्लेश से सहित (साधु) हैं तीव्र क्रोधी हैं ऐसे कितने ही जीव क्रमशः भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं[1]।

सव्वट्ठोत्ति सुदिट्ठी महव्वई भोगभूमिजा सम्मा।
सोहम्मदुगं मिच्छा भवणतियं तावसा य वरं ॥५४६॥
चरिया य परिव्वाजा बम्होत्तरच्चुदोत्ति आजीवा।
अणुदिस अणुत्तरादो चुदा ण केसवपदं जांति ॥५४७॥

त्रिलोकसार पृ० ४६१

१ सोहम्मादी अच्चुदपरियंतं जंति देसवदजुत्ता।
चउविहदाणपणट्ठा अकसाया पंचगुरुभत्ता ॥५५८॥
सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहिं परिपुण्णा।
जायंते इत्थीओ जा अच्चुदकप्पपरियंतं ॥५५९॥
जिणलिंगधारिणो जे उक्किट्ठतवस्समेण संपुण्णा।
ते जायंति अभव्वा उवरिमगेवज्जपरियंतं ॥५६०॥
परदो अच्चणवदतवदंसणणाणचरणसंपण्णा।
णिग्गंथा जायंते भव्वा सव्वट्ठसिद्धिपरियंतं ॥५६१॥
चरिया परिव्वजधरा मंदकसाया पियंवदा केई।
कमसो भावणपहुदी जम्मन्ते बम्हकप्पंतं ॥५६२॥

इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित ऐलक अथवा आर्यिका भी सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं और वस्त्ररहित दिगंबर मुनि चाहे भाव से मिथ्यादृष्टि भी क्यों न हों, नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा दिगंबर मुनि भावलिंगी ही नवअनुदिश पांच अनुत्तरों में जाते हैं। किन्तु अन्य संप्रदाय के[1] परमहंस नामक नग्न साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते हैं। अतः दिगंबर जैन मुनि हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

श्री शुभचंद्राचार्य भी कहते हैं—

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ हैं वह नपुंसक (नामर्द वा कायर) आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा?

एक लंगोटी मात्र परिग्रह भी रखने पर उसको धोना, सुखाना, सुरक्षा करना, फट जाने पर याचना करना आदि अनेकों दोष आते हैं। पुनः निर्विकल्प अवस्था रूप शुक्लध्यान की सिद्धि असंभव है ही। यही कारण है कि दिगंबर साधु वृक्षों की छाल, पत्ते, चर्म और वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढँकते हैं, अतएव अलंकार, परिग्रह और काम विकार से रहित नग्नमुद्रा को धारण करते हैं[3]।

इन्हीं सब कारणों से दिगंबर जैन संप्रदाय में स्त्रियों को इसी भव से मुक्ति का निषेध है ऐसा समझना।

यह दिगंबरत्व अपरिग्रह की चरम सीमा है, जितेन्द्रियता और निर्वि

जं पचेंदियतिरिया सण्णी हु अकामणिज्जरण जुत्ता।
मंदकसाया केई जंति सहस्सारपरियंत ॥५६३॥
तणदंसणसिहिया जीवा जं अमंदकोहजुत्ता।
कमसो भावणपहुदी केई जम्मंति अच्चुदं ताव ॥५६४॥

—तिलोय प० प० ६५३

१ परमहंसनामा जो जती सहस्रार ऊपर नहीं गली ॥

—चौबीस दंडक

२ बाह्यानपि च यः संगान्परित्यक्तुमनीश्वरः।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥१७॥

—ज्ञानार्णव प० १६८

३ वल्कलाजिनवस्त्राद्यैरंगासंवरणं वरं।
आचेलक्यमलंकारानंगसंगविवर्जितम् ॥४४॥ —आचारसार पृ० १७

इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित ऐलक अथवा आर्यिका भी सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं और वस्त्ररहित दिगंबर मुनि चाहे भाव से मिथ्यादृष्टि भी क्यों न हों नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा दिगंबर मुनि भावलिंगी ही नवअनुदिश पांच अनुत्तरों में जाते हैं। किन्तु अन्य सम्प्रदाय के[1] परमहंस नामक नग्न साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते हैं। अतः दिगंबर जैन मुनि हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

श्रीशुभचंद्राचार्य भी कहते हैं—

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ है वह नपुंसक (नामर्द या कायर) आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा?

'एक लंगोटी मात्र परिग्रह भी रखने पर उसको धोना, सुखाना, सुरक्षा करना, फट जाने पर याचना करना आदि अनेकों दोष आते हैं। पुनः निर्विकल्प अवस्था रूप शुक्लध्यान की सिद्धि असंभव है ही। यही कारण है कि दिगंबर साधु वस्त्रों की छाल, पत्ते, चर्म और वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढँकते हैं अतएव अलंकार, परिग्रह और काम विकार से रहित नग्नमुद्रा को धारण करते हैं[1]।'

इन्हीं सब कारणों से दिगंबर जैन सम्प्रदाय में स्त्रियों को इसी भव से मुक्ति का निषेध है ऐसा समझना।

यह दिगंबरत्व अपरिग्रह की चरम सीमा है जितेंद्रियता और निवि

चे पचेन्दियतिरिया सण्णी हु अकामणिज्जरेण जुदा।
मंदकसाया केई जंति सहस्सारपरियंत ॥५६३॥
तणुदंडणादिसहिया जीवा जे अमंदकोहजुदा।
कमसो भावणपहुदी केई जम्मंति अच्चुदं जाव ॥५६४॥
—त्रिलोकसार प० ५६१

१ परमहंसनामा जो यती सहस्रार ऊपर नहीं जाँहि ॥
—[illegible] ६८८

२ बाह्यानपि च यः संगान्परित्यक्तुमनीश्वरः।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥१०॥
—ज्ञानार्णव १६८

१ [illegible]।
[illegible] ॥४७॥ —[illegible] पृ० १०

अन्यत्र भी कहा है—'चार' प्रकार के दान में प्रवृत्त कषायों से रहित पंचगुरुओं की भक्ति से युक्त, देशव्रत संयुक्त जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान आर्जव लज्जा एवं शीलादि से परिपूर्ण स्त्रियां अच्युतकल्प पर्यन्त उत्पन्न होती हैं।

जो अभव्य जिनलिंग को धारण करने वाले और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। पूजा, व्रत तप, दर्शन ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न निर्ग्रंथ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

मंदकषायी प्रियभाषी कितने ही चरक (साधुविशेष) और परिव्राजक क्रम से भवनवासियों आदि को लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो कोई पंचेंद्रिय तिर्यंच संज्ञी जीव हैं अकामनिर्जरा से युक्त और मंदकषायी हैं वे सहस्रार कल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो तनुदण्डन अर्थात् कायक्लेश से सहित (साधु) हैं तीव्र क्रोधी हैं ऐसे कितने ही जीव क्रमशः भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं[1]।

सम्मद्दीठि सुरिंट्ठी महव्वई भोगभूमिजा सम्मा।
सोहम्मदुग मिच्छा भवणतियं तावसा य वरं॥५४६॥
चरिया य परिव्वाजा बह्मान्तरच्चोत्ति आजीवा।
अणुदिस अणुत्तरादो चुदा ण केसवपदं जांति॥५४७॥

तिलोकसार पृ० ४६९

१ सोहम्मादी अच्चुदपरियंत जंति देसवदजुत्ता।
चउविहदाणपयट्टा अकसाया पंचगुरुभत्ता॥५५८॥
सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहिं परिपुण्णा।
जायंते इत्थीओ जा अच्चुदकप्पपरियंतं॥५५९॥
जिणलिंगधारिणो जे उक्किट्ठतवस्समेण संपुण्णा।
ते जायंति अभव्वा उवरिमगेवज्जपरियंतं॥५६०॥
परदो अच्चणवदतवदंसणणाणचरणसंपण्णा।
णिग्गंथा जायंते भव्वा सव्वट्ठसिद्धिपरियंतं॥५६१॥
चरिया परिवज्जधरा मंदकसाया पियंवदा केई।
कमसो भावणपहुदी जम्मंते बम्हकप्पंतं॥५६२॥

अन्यत्र भी कहा है—'चार' प्रकार के दान में प्रवृत्त कषायों से रहित पंचगुरुओं की भक्ति से युक्त, देशव्रत संयुत जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान आर्जव लज्जा एवं शीलादि से परिपूर्ण स्त्रियां अच्युतकल्प पर्यन्त उत्पन्न होती हैं।

जो अभव्य जिनलिंग को धारण करने वाले और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। पूजा, व्रत तप, दर्शन ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न निर्ग्रंथ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

मंदकषायी प्रियभाषी कितने ही चरक (साधुविशेष) और पारिव्राजक क्रम से भवनवासियों आदि को लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो कोई पंचेंद्रिय तिर्यंच सभी जाव हैं अकामनिर्जरा से युक्त और मंदकषायी हैं वे सहस्रार कल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो तनुदंडन अर्थात् कायक्लेश से सहित (साधु) हैं तीव्र क्रोधी हैं ऐसे कितने ही जीव क्रमशः भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं[1]।

सम्मट्ठोत्ति सुदिट्ठी महव्वई भोगभूमिजा सम्मा।
सोहम्मदुग मिच्छा भवणतियं तावसा य वरं ॥५४६॥
चरिया य परिव्वाजा बह्मोत्तरच्चुदोत्ति आजीवा।
अणुदिस अणुत्तरादो चुदा ण केसवपदं जांति ॥५४७॥

त्रिलोकसार पृ० ४६९

१ सोहम्मादी अच्चुदपरियंतं जंति देसवदजुत्ता।
चउविहदाणपयट्टा अकसाया पंचगुरुभत्ता ॥५५८॥
सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहिं परिपुण्णा।
जायंते इत्थीओ जा अच्चुदकप्पपरियंतं ॥५५९॥
जिणलिंगधारिणो जे उक्किट्ठतवस्समेण संपुण्णा।
ते जायंति अभव्वा उवरिमगेवज्जपरियंतं ॥५६०॥
परदो अच्चणवदतवदंसणणाणचरणसंपण्णा।
णिग्गंथा जायंते भव्वा सव्वट्ठसिद्धिपरियंतं ॥५६१॥
चरिया परिव्वजधरा मंदकसाया पियंवदा केई।
कमसो भावणपहुदी जम्मंते बम्हकप्पंतं ॥५६२॥

अन्यत्र भी कहा है— चार प्रकार से ध्यान में प्रवृत्त कषायों से रहित पंचगुरुओं की भक्ति से युक्त, देशव्रत संयुत जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यंत जन्म लेते हैं। सम्यग्दर्शन ज्ञान आर्जव लज्जा एवं शीलादि से परिपूर्ण स्त्रियां अच्युतकल्प पर्यंत उत्पन्न होती हैं।

जो अभव्य जिनलिंग को धारण करने वाले और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यंत उत्पन्न होते हैं। पूजा, दान, तप, दर्शन ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न निर्ग्रंथ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि पर्यंत उत्पन्न होते हैं।

मंदकषायी प्रियभाषी कितने ही चरक (साधुविशेष) और परिव्राजक क्रम से भवनवासियों आदि को लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो कोई पंचेंद्रिय तिर्यंच संज्ञी जीव हैं अकामनिर्जरा से युक्त और मंदकषायी हैं वे सहस्रार कल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो तनुदंडन अर्थात् कायक्लेश से सहित (साधु) हैं तीव्र क्रोधी हैं ऐसे कितने ही जीव क्रमशः भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं[1]।

सव्वट्ठोत्ति सुदिट्ठी महव्वई भोगभूमिजा सम्मा।
सोहम्मदुगं मिच्छा भवणतियं तावसा य वरं ॥५४६॥
चरिया य परिव्वाजा बम्हात्तरपोत्ति आजीवा।
अणुदिस अणुत्तरादो चुदा ण केसवपदं जांति ॥५४७॥

तिलोयसार पृ० ४११

१ सोहम्मादी अच्चुदपरियंत जंति देसवदजुत्ता।
चउविहदाणपणा अकसाया पंचगुरुभत्ता ॥५५८॥
सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहि परिपुण्णा।
जायंते इत्थीओ जा अच्चुदकप्पपरियंत ॥५५९॥
जिणलिंगधारिणो जे उक्किट्ठतवस्समेण संपुण्णा।
ते जायंति अभव्वा उवरिमगेवज्जपरियंत ॥५६०॥
परदो अच्चणवदतवदंसणणाणचरणसंपण्णा।
णिग्गंथा जायंते भव्वा सव्वट्ठसिद्धिपरियंत ॥५६१॥
चरिया परिवज्जधरा मंदकसाया पियंवदा केई।
कमसो भावणपहुदी जम्मते बम्हकप्पंत ॥५६२॥

इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित ऐलक अथवा आर्यिका भी सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं और वस्त्ररहित दिगंबर मुनि चाहे भाव से मिथ्यादृष्टि भी क्यों न हो नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा दिगंबर मुनि भावलिंगी ही नवअनुदिश पांच अनुत्तरों में जाते हैं। किन्तु अन्य सम्प्रदाय के[1] परमहंस नामक नग्न साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते हैं। अतः दिगंबर जैन मुनि हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

श्रीशुभचंद्राचार्य भी कहते हैं—

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ हैं वह नपुंसक (नामर्द या कायर) आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा?

'एक लंगोटी मात्र परिग्रह भी रखने पर उसको धोना, सुखाना, सुरक्षा करना, फट जाने पर याचना करना आदि अनेकों दोष आते हैं। पुनः निर्विकल्प अवस्था रूप शुक्लध्यान की सिद्धि असंभव है ही। यही कारण है कि दिगंबर साधु वृक्षों की छाल पत्ते धर्म और वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढँकते हैं अतएव अलंकार परिग्रह और काम विकार से रहित नग्नमुद्रा को धारण करते हैं[3]।

इन्हीं सब कारणों से दिगंबर जैन सम्प्रदाय में स्त्रियों को इसी भव से मुक्ति का निषेध है ऐसा समझना।

यह दिगंबरत्व अपरिग्रह की चरम सीमा है जितेंद्रियता और निर्वि

जे पचेंदियतिरिया सण्णी हु अकामणिज्जरण जुत्ता।
मन्दकसाया केई जंति सहस्सारपरियंत ॥५६३॥
तणुदण्डणादिसहिया जीवा जे अमंदकोहजुदा।
कमसो भावणपहुदी केई जम्मंति अच्चुदं जाव ॥५६४॥

—त्रिलोकसार पृ० ६५१

1 परमहंसनामा जो जती सहस्रार ऊपर नहीं जाय ॥

—[illegible]

2 बाह्यान्यपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥१७॥

—ज्ञानार्णव पृ० ११८

3 [illegible] ॥४१॥ —[illegible] १७

अन्यत्र भी कहा है— 'चार' प्रकार के दान मे प्रवृत्त कषायों से रहित, पचगुरुओ की भक्ति से युक्त, देशव्रत सयुत जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त जन्म लेते हैं। सम्यक्त्व, दान आर्जव लज्जा एव शीलादि से परिपूर्ण स्त्रियां अच्युतकल्प पर्यन्त उत्पन्न होती हैं।

जो अभव्य जिनलिंग को धारण करने वाले और उत्कृष्ट तप के श्रम से परिपूर्ण हैं वे उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। पूजा, व्रत, तप, दर्शन ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न निर्ग्रंथ भव्य इससे आगे सर्वार्थसिद्धि-पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

मंदकषायी प्रियभाषी कितने ही चरक (साधुविशेष) और पारिव्राजक क्रम से भवनवासियों आदि को लेकर ब्रह्मकल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो कोई पंचेंद्रिय तिर्यच सज्ञी जीव हैं अकामनिर्जरा से युक्त और मंदकषायी हैं वे सहस्रार कल्प तक उत्पन्न होते हैं।

जो तनुदण्डन अर्थात् कायक्लेश से सहित (साधु) हैं तीव्र क्रोधी हैं ऐसे कितने ही जीव क्रमश भवनवासियों से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यंत जन्म लेते हैं[1]।

सम्मट्ठोत्ति सुदिट्ठी महव्वई भोगभूमिजा सम्मा।
सोहम्मदुग मिच्छा भवणतिय तावसा य वरं ॥५४६॥
चरिया य परिव्वाजा बह्मोत्तरपदोत्ति आजीवा।
अणुदिस अणुत्तरादो चुदा ण केसवपदं जांति ॥५४७॥

त्रिलोकसार पृ० ४६९

१ सोहम्मादी अच्चुदपरियत जति देसवदजुत्ता।
चउविहदाणपणा। अकसाया पचगुरुभत्ता ॥५५८॥
सम्मत्तणाणअज्जवलज्जासीलादिएहि परिपुण्णा।
जायते इत्थीओ जा अच्चुदकप्पपरियंत ॥५५९॥
जिणलिंगधारिणो जे उक्किट्ठतवस्समेण सपुण्णा।
ते जायति अभव्वा उवरिमगेवज्जपरियत ॥५६०॥
परदो अच्चणवदतवदसणणाणचरणसंपण्णा।
णिग्गथा जायते भव्वा सव्वट्ठसिद्धिपरियत ॥५६१॥
चरिया परिवज्जधरा मदकसाया पियंवदा केई।
कमसो भावणपहुदी जम्मते बह्मकप्पत ॥५६२॥

इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित ऐलक अथवा आर्यिका भी सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं और वस्त्ररहित दिगंबर मुनि चाहे भाव से मिथ्यादृष्टि भी क्यों न हो नवग्रैवेयक तक जा सकते हैं तथा दिगंबर मुनि भावलिंगी ही नवअनुदिश पांच अनुत्तरों में जाते हैं। किन्तु अन्य संप्रदाय के[1] परमहंस नामक नग्न साधु बारहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकते हैं। अतः दिगंबर जैन मुनि हुए बिना मुक्ति की प्राप्ति असंभव है।

श्रीशुभचंद्राचार्य भी कहते हैं—

जो पुरुष बाह्य परिग्रह को भी छोड़ने में असमर्थ हैं वह नपुंसक (नामर्द या कायर) आगे कर्मों की सेना को कैसे हनेगा?

एक लंगोटी मात्र परिग्रह भी रखने पर उसको धोना सुखाना, सुरक्षा करना फट जाने पर याचना करना आदि अनेकों दोष आते हैं। पुनः निर्विकल्प अवस्था रूप शुक्लध्यान की सिद्धि असंभव है ही। यही कारण है कि दिगंबर साधु वस्त्रों को छाल पत्ते चर्म और वस्त्रादि से शरीर को नहीं ढँकते हैं अतएव अल्पतर परिग्रह और काम विकार से रहित नग्नमुद्रा को धारण करते हैं[3]।

इन्हीं सब कारणों से दिगंबर जैन संप्रदाय में स्त्रियों को इसी भव से मुक्ति का निषेध है ऐसा समझना।

यह दिगंबरत्व अपरिग्रह की चरम सीमा है जितेंद्रियता और निर्वि

जं पंचेन्दियतिरिया सण्णी हु अकामणिज्जरण जुदा।
मंदकसाया केई जंति सहस्सारपरियंत ॥५६ ॥
तणुदंडणादिसहिया जीवा जे अमंदकोहजुदा।
कमसो भावणपहुदी केई जम्मंति अच्चुद ताव ॥५६४॥

—त्रिलोक प० प० ६५३

1 परमहंसनामा जो जती सहस्रार ऊपर नहीं गती ॥

—चौबीस दंडक

2 बाह्यानपि च यः संगान्परित्यक्तुमनीश्वरः।
स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ॥१७॥

—ज्ञानार्णव प० १६८

3 वस्त्राजिनवल्कलैः .... वरं।
.... ॥४८॥ —अनगारधर्मामृत पृ० १७